अध्ययन

१

साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक निबन्ध

डॉ० भगीरथ मिश्र, एम्० ए० पी-एच० डी०
लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रथम बार २०००]   दीपावली, २००५ वि०   [मूल्य ३)

ज्ञान की आराधना में सर्वस्व समर्पण करने वाले

साहित्य-मर्मज्ञ एवं खोजी

दिवंगत डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

को

सादर समर्पित

वक्तव्य

ज्ञान-ज्योति की आराधना में समर्पित 'अध्ययन' प्रथम पुष्प है। इसमें अब तक विचार और भावना के तत्व एवं रूप एक निश्चित रंग ग्रहण करने की ओर अभिमुख हैं और अन्ततोगत्वा इन सात्विक सद्भावना एवं संस्कृति के रंगों से यदि हमारा आस पास का चेतन संसार भी कुछ ग्रहण कर सका तो लेखक अपना प्रयास सफल समझेगा। इस संग्रह के कतिपय निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में अथवा अन्य प्रकार का प्रकाशन पा चुके हैं; लेखक उन सबका आभारी है जिनसे उसे इस सामग्री का कच्चा या पक्का रूप मिल सका है। प्रथम प्रयास होने के नाते इसमें जो भी त्रुटि, अशुद्धि, कमी आदि रह गई हों उनके लिए लेखक क्षमा प्रार्थी है।

विषय-सूची

खण्ड १

खण्ड २

खण्ड १

कवि का सत्य

१

कवि का सत्य

सत्य की खोज, सत्य का अन्वेषण, सत्य की परख और सत्य का ग्रहण, मनुष्य-जीवन का पुरुषार्थ है। आज हमारे बीच सत्य-व्यवहार के प्रति यथार्थ भावना एवं आवश्यक मनोयोग न होने के कारण व्यक्ति और समाज का आचरण इतना दूषित होता जा रहा है कि सदिच्छा एवं सद्‌भावना से प्रेरित राजकोय विधान एवं दंड-भय भो उसे रोकने में समर्थ नहीं हैं। मनुष्य स्वयं इतना सबल एवं सक्षम है कि व्यक्ति तथा समाज के रूप में उठना चाहे तो उठते देर नहीं लगती और गिरना चाहे तो गिरते गिरते रसातल तक पहुंच सकता है। अतः ऊपरी भार-दबाव, डर-धमकाव उसे उस समय तक उठा नहीं सकते जब तक कि उसके भीतर स्वयं उठने की इच्छा न हो, और इस इच्छा का उदय एवं विकास सत्य के प्रकाश के साथ ही होता है।

अतएव प्रारम्भ से लेकर आज तक दार्शनिक सत्य की खोज में, वैज्ञानिक सत्य के अन्वेषण में, समाज सुधारक सत्य की परख में तथा कवि एवं साहित्यकार सत्य के ग्रहण, विकास एवं प्रसार में संलग्न हैं। सत्य की खोज और अन्वेषण व्यर्थ है यदि परखने और उसे ग्रहण कर उपयोग में लाने वाले न हों।

सत्य का यथार्थ उपयोग तभी हो सकता है जब उसके प्रति हमारी एक पवित्र भावना हो और हमारी नैतिकता का वह विकास कर सके, अन्यथा शुद्ध बुद्धि एवं विवेक के अभाव में उसको तोड़-मरोड़ कर, उसके रूप को विकृत कर अपना स्वार्थ-साधन करने वाले, योग्य को अयोग्य और निरपराध को सापराध सिद्ध करने वाले बुद्धि-जीवी वकीलों की हमारे देश में कमी है। वैज्ञानिक का सत्य भी संसार का कल्याण तभी कर सकता है जब संसार के लोग उससे अपना कल्याण कराना चाहें और सत्यान्वेषण के प्रति मंगल-मयी, पावन मानवता की भावना उनके हृदय में विद्यमान हो, अन्यथा अणु बम और विविध बिषैली गैसों का भय, आशंका और दुष्परिणाम हमारी आँखों के सामने ही है।

दार्शनिक का सत्य हमारे बौद्धिक जगत् को प्रभावित करता है और वैज्ञानिक का सत्य भौतिक जगत को, किंतु हमारे भाव एवं कल्पना जगत् को आन्दोलित, विकसित, परिष्कृत एवं परिवर्तित करने वाला सत्य कवि का है। दार्शनिक का सत्य सर्व-जनग्राह्य नहीं है, और वैज्ञानिक का सत्य पदार्थगत, भौतिक एवं बाह्य है। एक में गहराई है किन्तु सुगमता एवं सरलता नहीं, दूसरे में सुख है किंतु आनन्द, आभ्यंतर-प्रवेश-क्षमता, सौन्दर्य तथा रमणीयता नहीं। अतः सामान्य शारीरिक एवं बौद्धिक आवश्कताओं के पश्चात् जो विशेष प्रभाव डालने वाला सत्य है, वह कवि का सत्य है काव्यगत सत्य है।

]

साधारणतया हम यह समझते और समझते आये हैं कि कवि का सत्य से कोई सम्बन्ध नहीं, पर विचार कर देखें तो कवि न केवल सत्य का आधार ही लेता है, वरन् सत्य की खोज, परख एवं उसका ग्रहण भी करता है। कवि खोजे हुए सत्य के नग्न ढाँचे को लेकर उस पर रंग एवं रूप भरता है और उसे सरस एवं सजीव बना देता है, यथार्थ के नीरस ठूँठ को वह कल्पनागत आदर्श से पल्लवित-पुष्पित, हरा-भरा एवं लहलहा कर देता है। दार्शनिक के सत्य, वैज्ञानिक के अन्वेषण एवं इतिहास-वेत्ता की खोज को यथार्थ, उपयोगी एवं आकर्षक बनाना कवि का ही काम है। पर इससे भी अधिक महत्व का कार्य कवि के लिए है, सत्य को अपने मूल-चारुत्व में ग्रहण कर उसकी अपने सहज सौन्दर्य के साथ अभिव्यक्ति करना। कवि की यथार्थ महत्ता इसी में छिपी रहती है।

दार्शनिक एवं वैज्ञानिक वास्तविक सत्य के तत्व मात्र को ग्रहण करते हैं पर कवि उतने से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वह सत्य के भीतर जितना भी सौन्दर्य एवं आकर्षण है उस सबको अपनी कल्पना और अनुभूति की संवेदनशीलता से ग्रहण कर, उसको एकांगी रूप न देकर पूर्ण एवं मनोहारी रूप देने का प्रयत्न करता है। फूलों पर पड़े हुए हिमकण, दार्शनिक की दृष्टि से क्षण-भंगुर है, वैज्ञानिक की दृष्टि से, 'ऑक्सीजेन' और 'हाइड्रोजेन' गैसों का एक विशेष अनुपात में सम्मिश्रण हैं, पर कवि की दृष्टि से वे इतने ही नहीं हैं। वे फूलों के मुखों

को सजाने वाले लुभावने मोती भी हैं और गगन के नक्षत्र भी, वे सौन्दर्य के तरल बिंदु भी हैं और करुणा के आँसू भी, साथ ही और न जाने क्या क्या! चन्द्रमा, एक उपग्रह है एक गगन-चारी पिण्ड है, पर क्या इतने विवरण से उसके सम्पूर्ण स्वरूप का उद्घाटन हो जाता है। यदि हो जाता तो कवियों की अब तक की, सुन्दरी रमणी के मुख, सुधाभांडार, हिमांशु, रजनीपति सोम, शीतकर आदि की कल्पनाएँ हमें मान्य न होती। इन सब प्रकार की विधियों से वह सत्य के उस अपूर्ण रूप को पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, जो केवल बुद्धिग्राह्य नहीं वरन्, अनुभूति एवं कल्पना-द्वारा ग्राह्य होकर ही पूर्ण होता है। सत्य का विशेषतः वही पक्ष कवि-सत्य है, जो कल्पना एवं अनुभूति से ग्राह्य होता है पर बुद्धि-ग्राह्य सत्य उसका मार्ग-प्रदर्शक अवश्य होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि का प्रयत्न, सत्य को अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ ग्रहण करना होता है। जब कवि काव्य को इस रूप में देखता है तभी वह यथार्थ काव्य हमें दे सकता है, कवि का स्वानुभूत सत्य सौन्दर्य को छोड़ नहीं सकता; वह सौन्दर्य से भिन्न नहीं हैं। तभी तो अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि 'कीट्स' ने कहा है कि "सौन्दर्य सत्य है और सत्य सौन्दर्य ह, यही जानना हमारे लिये सब कुछ है (Beauty is Truth, truth beauty, that is all.)। इसी सत्य का उद्घाटन करने वाले कवि काव्य-विवेक से रहित होकर भी

हमारे बीच पूर्ण प्रतिष्ठित हैं। गोस्वामी तुलसीदास का सम्मान इसी कारण है कि उन्होंने जो जीवन का सत्य है उसको स्पष्ट किया है। इस बात को उन्होंने अपनी प्रारम्भिक प्रतिज्ञा में ही 'रामचरितमानस' में इस प्रकार व्यक्त किया है:—

"कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।"

यहाँ तक कि अपने वंदनीय भगवान शंकर से भी वे यही याचना करते हैं कि:—

"सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौ हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होइ जो कहहुँ सब भासा भनिति प्रभाव॥"

अत: जिन्होंने भी आन्तरिक-प्रेम से विह्वल होकर लिखा है, उन्होंने स्वानुभूत सत्य को ही प्रकट करने का प्रयत्न किया है; यदि यह न होता, तो सत्य की अनुभूति करने वाले अन्य अनेक रहस्यवादी सन्त कवि अनचाहे, कवि न बन जाते। कबीर, जायसी आदि इसी प्रकार के कवि हैं। तो सत्य की ललक कवि का सम्बल है जिसके सहारे अपने विषम पथ पर भी वह स्वानुभूति के उत्स से अमृत की मधुरिमा ग्रहण करता रहता है।

हाँ, यह बात माननी पड़ेगी कि सत्य का स्वरूप, युग के अनुकूल अपनी आभा बदलता रहता है। यहाँ पर एक यह बात भी ध्यान देने की है कि युग-युगान्तर में अन्य सत्य जितने

शीघ्र तिरस्कृत एवं अनुपयोगी हो जाते हैं, उतने शीघ्र काव्यगत सत्य नहीं। अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य को सँजोये रहने के कारण उसका आकर्षण, उसकी आभा कभी नितान्त फीकी नहीं पड़ती; दूसरे अधिक आकर्षण एवं रंगीन स्वरूप को सामने पाकर कुछ धीमी चाहे भले ही पड़ जाय। युग-युगान्तर में ग्रहण किये गये-काव्यगत सत्य, विभिन्न मणियाँ हैं जिनके सूत्र बदलते रहते हैं। किसी युग में यदि उन्हें पिरोने वाला सूत्र भक्ति का है, तो दूसरे युग में शृंगार एवं विलास का। एक युग में वह करुणा का है तो दूसरे युग में देश-प्रेम का। एक युग में वही सूत्र समाज सुधार का है, तो दूसरे युग में साम्यवाद को। इस प्रकार सूत्र पुराने अवश्य होते रहते हैं, पर मणियों की चमक-दमक थोड़े प्रयास करने पर वैसी ही बनी रहती है। यही दशा काव्यगत सत्य की भी है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक सत्य-सिद्धांत यदि आगामी युग में असत्य सिद्ध होगये, तो फिर उनका कोई मूल्य नहीं; आगे का युग उसे ग्रहण नहीं करेगा; पर काव्यगत सत्य कभी भी नितांत तिरस्कृत नहीं होते। सूर्य, पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, इस मान्यता का अब कोई मूल्य नहीं; पर हंस का क्षीर-नीर विवेक, चन्द्रमा का अमृत, आकाश की दुग्धगंगा (milky way), यश का श्वेत एवं अनुराग का लाल रंग, स्वर्ग, नरक आदि काव्यगत सत्य अब भी समादृत हैं।

काव्य के लक्षणकारों ने प्रायः काव्य के बहिरंग पर विचार कर कवि को अपने इस सत्य-खोज के पथ से भ्रष्ट किया। ऐसे

अनेक समय आये जब वह जीवन में सत्य के संदेश को भूलकर केवल वाग्वैदग्ध्य के हो फेर में पड़ गया। इसका परिणाम यही हुआ कि कवि, कवि न रहा और उसकी कृति शाश्वत् काव्य न हो पायी।

सत्य की खोज सहज नहीं है। उसके लिए अथक साधना करनी पड़ती है; पर हमारा कवि और हमारा समाज दोनों ही उसके लिए तैयार नहीं हैं। कवि जब तक जीवन्मृत की भाँति जीवन-समुद्र में गहरा गोता नहीं लगावेंगे, तब तक मोती और माणिक्य हाथ कैसे लग सकते हैं? कवि ऐसा नहीं कर रहे, इसमें केवल उनका ही दोष नहीं। हमारे समाज और शासन दोनों पर इसका उत्तरदायित्व है।

यदि हम कवि से यथार्थ काव्य की आशा करते हैं, तो हमें उसे साधना का अवसर एवं सुविधा देनी होगी। आज का कवि अपने पूर्ण रूप में कवि नहीं, यह सत्य है, पर यह भी सत्य है कि आज का समाज कवि के प्रति अनुदार है। हम यदि कवि से सत्य के सुन्दर रूप को पाना चाहते हैं, तो हमें उसको खोजने की, ग्रहण करने की सुविधा एवं स्वच्छंदता देनी चाहिए। उसमें यदि सचमुच कवित्व की प्रतिभा है, तो हमें उसका सम्मान करना चाहिए। सम्मान से बेलें लहलहाती हैं, पौदे फलते फूलते हैं, पशु तक मुग्ध होते हैं, फिर मानव और कवि का क्या कहना है? हमारे लिए आवश्यकता है कि कवि और साहित्यकार का सम्मान करें; उसका पथ-प्रदर्शन भी करें। उसकी एकांत-प्रियता

और असमृद्धता पर जब से हम कवि का तिरस्कार करने लगे, तभी से सभी कवि बन गये हैं और कोई कवि नहीं रह गया। अपने अतीव भौतिक दृष्टि कोण से इस सबल युग में हमने काव्यगत सत्य का बलिदान कर दिया है। व्यापारिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण-मात्र प्रधानता धारण कर रहा है, और जिसकी वेदी पर हम अपने आभ्यन्तर विकास एवं संस्कृति की बलि दे रहे हैं।

कवि का सत्य, समाज का बल है। वह हमारी प्रवृत्तियों का परिष्कार करता है, उनको अपने सहज अमृत से सींच कर विकसित करता है, और आनन्द पूर्वक जीवन-यापन की कला बताता है। आज तक विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों का प्रयत्न यही जानने का रहा है कि जीवन को सफल एवं आनन्द-पूर्ण कैसे बिताया जा सकता है? विज्ञान आविष्कारों-द्वारा मानव को श्रम से मुक्त कर शारीरिक एवं भौतिक सुविधा देने में प्रयत्नशील है, राजनीति और दर्शन समाज को एक सूत्र में बाँधने वाले आर्थिक और आध्यात्मिक सिद्धांतों की खोज और प्रसार में संलग्न हैं, पर काम बिना कवि की सहायता से नहीं चल सकता। समाज, केवल भौतिक सुविधा पाकर ही आनंदित नहीं हो सकता ; केवल सिद्धांत प्राप्त कर उस पर चलने नहीं लगता, जब तक कि इनके मूल में और हमारे जीवन में व्याप्त जो सत्य एवं सौन्दर्य हैं उनका सम्मिलन नहीं होता। इन सत्य सिद्धांतों के प्रति अनुराग और पावन भावना

बनाना कवि का काम है। अतः आज की परिस्थिति में हमें प्रमुख कठिनाई हो रही है वह इसी कारण से कि हमें 'काव्य का सत्य' अगम्य है। यदि यह सुगम हो जाय, तो हमारे मन, हृदय और बुद्धि का समन्वय हो सकता है और फिर पारस्परिक प्रेम एवं सम्मान के भाव पनप कर हमें विकसित करेंगे और ईर्ष्या-द्वेष आलोचना या दोष-दर्शन के भाव शांत होंगे। ऐसा होने पर ही एक साथ हमारे बाहुओं में बल, मन में ओज, मुख पर प्रसन्नता, हृदय में उत्साह और प्रेम, बुद्धि में विवेक तथा आत्मा में आनंद-उल्लास प्रवाहित हो सकेगा। कवि का सत्य हमारे जीवन का सत्य है हमारे हृदय और भावनाओं का सत्य है जिसके माध्यम से ही हम एक दूसरे से मिले हुए हैं।

———

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

२

साहित्य में आदर्श और यथार्थ

मानव-संसार अपने शैशव में प्रकृति की वस्तुओं को श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। कारण था, जगत् के वास्तविक सत्य की अनभिज्ञता से उत्पन्न प्रकृति का रहस्यपूर्ण प्रभाव। मानव की जाग्रत कल्पना अपने जीवन-सम्बन्धी अनुभवों के उपरांत किसी कोमल और सौन्दर्यमयी सत्ता को एक स्वप्निल दृष्टि से देखती थी। उसकी मृदुल और भयभीत भावनाएँ जहाँ कहीं सौन्दर्य और शक्ति देखती थीं, वहाँ वह किसी स्वर्गिक मुसकान अथवा दैवी-प्रकोप का अनुभव करती थीं। खिले हुये फूल, कलकलनिनादिनी सरिता, सुरभित समीर, उल्लसित "कुहू-कुहू" और करुण "पी कहाँ" रंग-बिरंगे पक्षी जहाँ हृदय में आनन्दात्मक उल्लास भरते थे और एक अविश्लेष्य रहस्य का अनुभव होता था, वहाँ ही कड़कती विद्युत्, गरजते मेघ, आँधी, ऊर्मिल-सागर और सिंहनाद एक देखी और अदेखी शक्ति के समन्वय से भय का संचार करते थे। सत्यतथ्य की आच्छन्नता में मनुष्य की कल्पना सदैव सचेत और सचेष्ट रहती है और उन प्रारम्भिक दिनों में सत्यता की खोज का प्रयत्न मानक अपनी काल्पनिक शक्तियों के सहारे कर रहा था। यही प्रत्येक भाषा

के प्रारम्भिक साहित्य के कुछ रहस्य-पूर्ण और आदर्शवादी होने का कारण है।

श्रद्धा और रहस्य की भावनाओं का मूल धीरे-धीरे तथ्य की खोज के झकोरों से हिलने लगा। प्रारम्भ में प्रतिभा और शक्ति के प्रति जो एक अलौकिकता से आलम्बित श्रद्धा का प्रकाशन किया जाता था, वह धीरे-धीरे कम हुआ। राजा की दैविक अधिकृति और शक्ति पर लोगों का विश्वास हटा और आदर्श और रहस्य की भावना वर्तमान व्यक्तित्व के प्रति कम होकर अतीत व्यक्तित्व की ओर विशेष रूप से प्रवृत्त हुई, जिनका सहारा लेकर आज तक आदर्शात्मक साहित्य का सृजन होता जा रहा है। आदर्शात्मक साहित्य-रचना का कारण विश्व के अविचलित नियमों की खोज के साथ-साथ भी उनकी संचालक शक्ति का आभास है और वर्तमान समय में तथ्य के अनुभव और दिग्दर्शन के साथ-साथ भी विशालता की अनुभूति के आधार पर पूर्णता को ओर प्रगति देने का विचार आदर्श साहित्य के सृजन को मूल में है। अतएव आदर्शवाद का अन्त कभी नहीं हो सकता। यथार्थवाद के अन्तर्गत भी एक आदर्शवाद ही है। हाँ, यह उसका केवल परिवर्तित स्वरूप है।

प्रवृत्ति के विचार से दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं। एक प्रकार के व्यक्यिों की दृष्टि सदैव किसी भी वस्तु के गुणों पर ही रीझती है और दूसरे प्रकार के व्यक्तियों की दृष्टि केवल अवगुणों की ओर विशेष रूप से रहती है। यद्यपि दोनों

दृष्टियों में स्वभावतः तथ्य ही आता है, केवल तथ्य के दो पहलू हो जाते हैं। काल्पनिक शक्तियों के प्राबल्य में प्रायः मनुष्य गुणों की ओर आकर्षित होता है। अतः उसका चित्रण सदैव आदर्शवाद से पूर्ण होगा, जब कि दूसरे प्रकार का चित्रण यथार्थवाद के नाम से पुकारा जाता है। अथवा यों कहें कि यथार्थवादी वह है, जो गुण-अवगुण में से किसी को भी नहीं छोड़ता, जब कि आदर्शवादी की दृष्टि वर्ण्य वस्तु के गुणों पर ही मुग्ध हो जाती है और अवगुण भी गुण हो जाते हैं। आदर्शवादी एक प्रेमी कलाकार होता है, उसका हृदय अनुराग से ओत-प्रोत है, फिर जो हृदय अनुराग से लहरित हो सकता है, उसमें उतनी ही शक्ति विराग की भी रहती है, अतः वह किसी की बुराई भी, अपने अनुराग के आधार विषय की प्रशंसा में अधिक दिखला सकता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आदर्शवाद जहाँ हमें चरम सीमाओं की ओर ले जाता है, वहाँ यथार्थ मध्य पथ को ग्रहण करता है, जहाँ से दोनों छोरें सुगमता से देखी जाती हैं। और इस प्रकार हम प्रवृत्ति विशेष को ध्यान में रखकर कह सकते हैं कि यथार्थवादी लेखक, कवि कम होता है, आलोचक अधिक होता है। कवि जब अपनी वस्तु में रम जाता है, तब दूसरी ओर उसकी दृष्टि नहीं जाती, किन्तु आलोचक की पैनी दृष्टि हृदय को आत्मविस्मृति के साथ कहीं भी नहीं रमने देती है, वह एक पहलू के साथ-साथ दूसरे

पहलू पर भी दृष्टि रखता है। अतः आदर्शवादी साहित्य-रचयिताओं में साधना की विशिष्टता और यथार्थवादी लेखकों में जिज्ञासा और अनुभव की तीव्रता प्रधान रूप से कार्य करती है।

विषय की दृष्टि से भी आदर्शवाद और यथार्थवाद दोनों ही यथार्थ का चित्रण करते हैं। जिसे हम यथार्थवाद कहते हैं, वह जीवन की साधारणता का चित्रण हमारे सम्मुख उपस्थित करता है और जिसे हम आदर्शवादी साहित्य कहते हैं, वह जीवन के असाधारण व्यक्तित्व की सृष्टि करता है, किन्तु है वह भी यथार्थ। वह चित्रण भी जीवन का एक अंग होता है। हाँ, उसमें चुनाव की आवश्यकता विशेप रूप से पड़ती है।

आदर्शवादी साहित्य व्यक्तिप्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है, जो कि जन साधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानवसमाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जनसमाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा और उसके चले जाने पर स्मारक और जयन्ती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं, उनमें सत्यता है, किन्तु वे सर्वत्र सदैव नहीं मिलतीं, इसी कारण से मानव को उनकी स्मृति का लोभ रहता है, और इस प्रकार

के ग्रंथों व साहित्य का आजकल प्रतिक्रिया रूप में चाहे कितना विरोध हो, समाज में सदा आदर होता रहेगा।

वर्तमान प्रगतिवाद भी आदर्शवाद के ही विशेष निकट है। दोनों में अन्तर यह है कि आदर्शवाद विशेष व्यक्तित्व को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है और प्रगतिवाद हमारे अन्तर्गत सामाजिक और नैतिक चेतना जाग्रत करता है, समाज के दुःखों की ओर हमारा ध्यान ले जाता है और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य के जीवन में नहीं देखते—उपस्थित करता है। प्रगतिवाद का ओज, विलाप, करुणा, पश्चात्ताप आदि जहाँ सामाजिक महत्त्व रखते हैं वहाँ आदर्शवाद का महत्त्व व्यक्ति विशिष्ट के दृढ़ चरित्र पर विश्वास है, किन्तु इस अविश्वास के युग में, श्रद्धा व रीझने के गुण के स्वाभाविक अभाव में, सामुहिक समस्याओं को सम्मुख उपस्थित कर, एक स्थायी भावना भर देना—यदि प्रगतिशील साहित्य द्वारा साध्य हो सके तो हमें इस विषय पर इसके पश्चात् और कुछ विचारने का अवकाश मिल जायगा।

गतिवाद में यथार्थवाद की पृष्ठभूमि पर आदर्शवाद का सन्देश रहता है। यथार्थवाद एक वातावरण के रूप में होता है और आदर्शवाद उसमें पनप सकता है। प्रगतिवाद सामूहिक होता है, समष्टिगत होता है, व्यक्तिगत नहीं। ऐसे चित्रण में सजीवता का

स्थान विशेष प्रधान है, व्यक्तित्व का उतना नहीं। हमने प्राचीन आदर्श चित्रणों में देखा है कि एक व्यक्ति के व्यक्तित्व के प्रभाव में दूसरों का व्यक्तित्व दबा हुआ-सा रहता है। रामायण कथानक में भरत, उर्मिला, कौशल्या, वशिष्ठ, हनुमान, सभी एक-एक काव्य के पात्र होने के गुणों से सम्पन्न हैं, फिर भी राम के विशाल व्यक्तित्व के सम्मुख सभी दबे हुए हैं। एक सार्वकालिक व समर्थ व्यक्तित्व अन्य को दाब देता है, किन्तु इस प्रकार के चित्रण पर अयथार्थता का लाञ्छन नहीं लग सकता। जीवन में इस प्रकार के चरित्र मिलते हैं। आधुनिक युग में ही देखिये, गान्धी, मालवीय, जवाहर, रवीन्द्र आदिक हैं, जो कि अन्य समयों में इनमें से प्रत्येक सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति होने की सामर्थ्य रखता है, किन्तु एक के विशाल व्यक्तित्व के सामने और सब दबे हैं। अतः रामचरितमानस का चित्रण भी जीवन को देखते हुए सच्चा ही है। साहित्य का प्रभाव सदैव स्वाभाविकता व यथार्थता के कारण ही होता है और जो रचनाएँ जीवन से अलग केवल कल्पना के आधार पर लिखी गई हैं, उनका सामुहिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं, वे उसे बल नहीं दे सकतीं। जिनसे जीवन का बल मिले, वही साहित्य, वही रचनाएँ हमारे काम की हैं।

यथार्थवाद तत्त्वतः आदर्शवाद के विपक्ष में उतना नहीं, जितना कि छायावाद के। छायावाद का अधिकांश, जीवन की भावनाओं को व्यक्तिगत विशेषता के साथ ही सम्मुख रखता है और फिर उसमें जीवन के चित्रों की काल्पनिक छाया है,

स्थूल आकार नहीं ; कल्पना को उससे सन्तोष होता है, पर हृदय भूखा ही रह जाता है। हम उसमें न खुलकर हँस सकते हैं, न रो सकते हैं, न क्रोध कर सकते हैं और न खेल ही सकते हैं। उसमें काल्पनिक विलाप है, जिस तक प्रत्येक की पहुँच नहीं, सर्वसाधारण का वह गान नहीं बन सकता। अतः हमें कुछ स्थूल, अपने जीवन में देखे-सुने चित्रों को चाहिए, जिनके साथ हम हँसकर, रोकर, अपने भावों को प्रकाशित कर अपने को हल्का कर सकें। रोगी के गुप्त रोग की भाँति छायावादी करुण भावनाएँ हृदय के किसी कोने में घुस जाती हैं, किन्तु न वे आन्दोलन ही उठाती हैं और न विह्वल ही करती हैं ; उनमें एकाङ्गीपन रहता है। मनुष्य सदा देवता नहीं बना रह सकता, उसे संसार को अपना समझकर ही जीवन में आनन्द मिल सकता है। अतः हमारे साहित्य में सजीवता का होना आवश्यक है, जिसमें कि जीवन के छोटे-बड़े आनन्द, उल्लास, हँसी, परिहास, व्यंग्य, करुणा, विलाप आदि का जीता-जागता चित्र हो और हम कह सकें कि हाँ, हमने ऐसा होते देखा है।

स्मृतिके रूप में हमारे मस्तिष्क में जितने भी अनुभव सोते हैं, वे सभी साहित्य के द्वारा उकसाये जाकर आनन्द व बल देने में सहायक हो सकते हैं। अतः कवि और कलाकार की सहृदयता इन्हीं सोते हुए अनुभव के स्तरों को खोज निकालने में ही हृदयता और प्रतिभा है। अतः इस प्रयास में जहाँ हम कहते हैं कि हम आदर्श से यथार्थ की ओर आ रहे हैं, वहाँ हम तत्त्वतः छाया

से हटकर सजीवता को ओर बढ़ रहे हैं। जहाँ, इस सजीवता के पास आकर हमारी सभी ऊँची-नीची भावनाएँ एक प्रबल हिलोर में झूम उठें, हमारा हृदय अनुभूत भावनाओं से भरा और स्मतियों से विह्वल हो, हम अपने मुख से कवि के गीतों को गा उठें और समझें कि जीवन का यह नया अनुभव है, वहीं कविता का उद्देश्य पूरा हो जाता है।

इसी स्तर पर आकर साहित्य के यथार्थ, आदर्श, छाया, प्रगति आदि सजीवता से सम्बन्धित हो सभी वाद एक हो जाते हैं; यहीं से साहित्य की महत्ता जीवन के लिए प्रारम्भ हो जाती है और साहित्य केवल अवकाश का मनोरंजन न रह कर जीवन का पोषक हो जाता है जिसके विना समाज दुर्बल और क्षीण हो जाता है, और उसमें ताज़ा रक्त न रहने से आनन्द भी विषाद में परिणत हो जाता है।

प्रगतिशील हिन्दी-काव्य

२

प्रगतिशील हिन्दी-काव्य

हिन्दी में प्रगतिशील साहित्य का प्रादुर्भाव एक प्रतिक्रिया के रूप में हुआ है। शताब्दियों से अभिजनित, शक्तिशाली राजा-महाराजाओं के गीत गाते-गाते तथा रामकृष्ण की साकार अथवा ईश्वर की निराकार उपासना का गान करते-करते जब काव्य में नवीनता का क्षेत्र संकुचित हो गया, तो उसको विस्तार देने के लिए उन्हीं विषयों के आसपास अस्पष्ट रूप से अपनी सौन्दर्योपासना की भावना का प्रकाश, वर्त्तमान रहस्यवाद के गीतों तथा छायावादी काव्यों में हुआ।

मानव-जाति की व्यक्तिगत कहानियाँ, जो संस्कृत महा-काव्यों की परिभाषा के आधार पर न-जाने कितने महा काव्यों तथा खण्डकाव्यों—यहाँ तक की मुक्तककाव्यों—का विषय बन गई थीं, अब प्राचीन-सी जान पड़ीं और प्रकृति को ही एक जीवित वस्तु, भावनाओं से युक्त और साकार मानकर कविता का विषय बनाया गया, अथवा सम्पूर्ण मानवता की कहानी के रूप में प्राचीन वैदिक तथा संस्कृत इतिहास के आधार पर प्रबन्ध-काव्य की रचना के रूप में नवीन महाकाव्य की सृष्टि हुई। किन्तु यह सब

भावाभिव्यंजन तथा कला को पूर्ण विकास देने की सामर्थ्य रखते हुए भी जीवन की अनुभूति व रस का विपाक उपस्थित न कर सके। उनमें हमें धुँधला सौन्दर्य-दर्शन तथा अनुभूति की मन्द लहरी मिली; किन्तु उथल-पुथल पैदा कर देने वाली और मन पर गहरी रेखाओं द्वारा एक स्थायी चित्र खींच देने की शक्ति का अभाव ही रहा।

इस कल्पना-प्रधान कला की साधना में साधारण रसिक का तन्मयता न मिल सकी और न जीवन के साथ-साथ उसका प्रवाह ही रह सका। समालोचकों ने इन अधिकांश नवीन 'कल्पनात्मक अनुभूति' से युक्त काव्यों में जीवन से दूर होने का लांछन लगाया। किन्तु यह सब कला के विकास में, उसके सूक्ष्म चित्रण में, प्रकृति के रहस्योद्घाटन में सहायक ही सिद्ध हुआ और हिन्दी की अधिकांश कविता से भिन्न होने पर भी इसका महत्त्व कम नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार अंगरेजी-साहित्य में Romantic Revival अर्थात् १९वीं शताब्दी की कविता अपना निजी महत्त्व रखती है, उसी प्रकार यह कविता भी हिन्दी-साहित्य का एक सुन्दर और शिष्ट अंग है। परिस्थितियों के प्रतिकूल, भाषा व प्रकाशन-प्रणाली के शैशव में नवीन संसार के कलात्मक चित्र उपस्थित करना और अलौकिक गीत गाना इन्हीं छायावादी व रहस्यवादी साधक कलाकारों का काम है।

किन्तु जीवन की प्यास कला से नहीं बुझती। संगीत की

मधुमय स्वर-लहरियाँ क्षण-प्रतिक्षण में उठती हुई भावनाओं को कुछ देर के लिए शान्ति अवश्य दे सकती हैं; किन्तु उनको दबा नहीं सकतीं। समाज के अन्तर्गत फैला हाहाकार, जीवन की विषमता से उत्पन्न तीखी भावनाओं, और अनमेल सम्बन्धों से उद्भूत हृदय की मसोस, कृत्रिम जीवन से उत्पन्न सत्य बंधुत्व के प्रति द्वेष तथा जीवन की अन्य समस्याएँ, जो काव्य के विषयों से भिन्न समझी जाती थीं, अब इतनी प्रबल और व्यापक हो गईं कि भावनाओं के तीखेपन से उत्पन्न होने वाले स्वभाव से युक्त काव्य का इनसे घनिष्ट सम्बन्ध दीख पड़ा। जब जीवन के प्रत्येक दिवस तथा दिवस के प्रत्येक क्षण में अनाचार का ताण्डव होता है, हृदय को उकसा देनेवाले क्रन्दन तथा भूखों की करुण पुकार प्रति प्रातः हमारे कानों में शीत वायु की भाँति प्रवेश करते है, जब निस्व किसानों के जोवन का नागरिकों के जीवन से इतना अन्तर है, तब क्या बात है कि हमारे कवियों के रौद्र, उत्साह, करुण वीभत्स रस यहीं हमारे आस-पास के दृश्यों को देखकर ही न जाग पड़ें ?

जब हमें यह स्पष्टतया अनुभव होता है कि ग्रामों में रहनेवाले लोगों के जीवन में भो रस है, उनमें भी सौन्दर्य है, उनके आस-पास भी प्रकृति अपना सौन्दर्य-पटल फैलाए है, उन पर भी उषा मुस्काती, संध्या अभिसार करती और रजनी चाँदनी बिछाती है, मेघों का दल वहाँ भी उनके जीवन में उतनी ही तीखी भावनाओं को जाग्रत करता है, जितना बड़े-

बड़े लोगों के, उनके भी उत्सव हैं, विलाप हैं, सुख-दुःख है; तब क्यों एक साधारण जीवन का यथार्थ चित्रण काव्य का विषय नहीं बन सकता ?

यही प्रगतिवाद के प्रादुर्भाव का कारण है। यह साहित्य अथवा काव्य का अस्वाभाविकता से स्वाभाविकता की ओर एक पदन्यास है। हम अपनी स्वाभाविक भावनाओं का स्वाभाविक रूप से प्रकाशन करना चाहते हैं, यही प्रगतिशील साहित्य की प्रेरणा है। काव्य के विषयों के लिए हम अतीत की ओर न देखकर वर्तमान की ओर देखते हैं। हम आकाश की ओर न देखकर अपने आस-पास पृथ्वी पर के जीवन को ही देखना और लिखना चाहते हैं। यह प्रवृत्ति धिक्कारने की नहीं, किन्तु स्वागत करने की है। इससे साहित्य की हानि नहीं, लाभ है। किन्तु नवीन मार्ग को ढूँढ़ना और उस पर समुचित रीति से प्रतिष्ठा के साथ सत्य-यात्रा करना बड़ी विभूतियों का काम है। साम्यवाद की लहर जनता के हृदय में समय-समीर से उठी हुई लहर है; किन्तु उसे पहचान कर ठीक रास्ते ले जाना मार्क्स और लेनिन-जैसे मनस्वियों का ही काम है।

यह सत्य है कि आज प्रगतिशील साहित्य के नाम पर जिस प्रकार की कविता हो रही है, वह नितान्त अभिप्रेत नहीं है। बहुतों में कवित्त्व नहीं, केवल खिलवाड़ है। स्वाभाविकता की स्वतन्त्रता यदि यहाँ तक बढ़ जाय कि कविता और साधारण बात में कोई अन्तर ही न रह जाय, तो यह उत्थान नहीं,

पतन है। यह प्रवृत्ति हिन्दी में ही नहीं, वर्तमान अंगरेजी-साहित्य में भी चल पड़ी है ; जहाँ पर सुअर, कुत्ते, मोटरकार आदि कविता के विषय हो गए हैं। यह प्रवृत्ति काव्य के लिए अस्वास्थ्यकर है। जहाँ पर समाधि नहीं, कवि की अपने विषय में, भावनाओं, की तल्लीनता नहीं तथा उसके वर्णन से पाठक या श्रोता के हृदय में मानव-सुलभ विश्व-व्यापक भावनाओं का संचार न हो जाय, उसे हमें कविता कहने में संकोच होता है। 'उदाहरणार्थ यह कविता देखिए :—

तुम्हें याद है क्या उस दिन की, नए कोट के बटन-होल में
हँसकर प्रिये लगा दी थी जब वह गुलाब की लाल कली ?
फिर कुछ, शरमा कर, साहस कर बोली थीं तुम—'इसको यों ही
खेल समझ कर फेंक न देना, है यह प्रेम-भेंट पहली !'
कुसुम-कली वह कब की सूखी, फटा ट्वीलका नया कोट भी ;
किन्तु बसी है सुरभि हृदय में, जो उस कलिका से निकली !

इसमें एक भावना है, यह ठीक है ; किन्तु कवि का प्रकाशन हृदय के अन्तर से न निकल कर बनावटी हँसी की भाँति मस्तिष्क से निकला है। कवि की भावना जितनी गहरी है, पढ़नेवाले को उतनी नहीं ; क्योंकि कवि ने तन्मयतापूर्वक प्रकाशन की सर्वश्रेष्ठता नहीं अपनाई। ऐसा कहने में मेरा केवल इसी कविता की ओर संकेत है, कवि को अन्य रचनाओं की ओर नहीं, जिनमें पूरी तन्मयता तथा अभिव्यंजना है और भाव-

प्रकाशन की स्वाभाविकता है; किन्तु कला के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को हम स्वाभाविकता के नाम पर दूर नहीं कर सकते। इसी प्रकार दो लड़कों का चित्रण देखिए:—

जल्दी से टीले से नीचे उधर उतरकर,
वे चुन ले जाते कूड़े से निधियाँ सुन्दर।
सिगरेट के खाली डिब्बे, पन्नी चमीकीली,
फ़ीतों के टुकड़े, तस्वीरें नीली-पीली—
मासिक पत्रों के कवरों की, औ बन्दर से,
किलकारी भरते खुश हो अन्दर से।
दौर पार आँगन के फिर हो जाते ओझल,
वे नाटे छः-सात साल के लड़के मांसल।

इसमें कितनी कविता है? बच्चों का-सा पद्य, चित्रण में न अनुभूति की गहराई न कला। इस प्रकार का चित्रण तो छोटी कहानी का क्षेत्र है। विषय और भावोत्थान प्रगतिशीलता के गुण अवश्य रखते हैं; किन्तु अभिव्यक्ति में तन्मयता, पंक्तियों में स्मरणीयता नहीं। उसका प्रभाव नितान्त धीमा है गहरा नहीं है। इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियाँ।

मानव के पशु के प्रति हो उदार नव-संस्कृति'
मानव के पशु के प्रति मध्यवर्ग की हो रति।
तथा— मुक्त करो नारी को मानव, चिरवन्दिनि-नारी को।
मुग-युग की बर्बर कारा से जननि सखी प्यारी को।

ये नितान्त उपदेशात्मक तथा अनुभूतिहीन और केवल मस्तिष्क की प्रेरणा हैं। जहाँ पर कविता के योग्य भाव ही न हो सके और वहाँ मस्तिष्क की प्रेरणा काम करे, तो वह कविता न होगी फिर भी यह विशेप आपत्तिजनक नहीं। किन्तु उन विषयों पर, जिनका केवल चित्रण तथा स्मृति-मात्र कविता का समुद्र उमड़ा सकता है, कवि की अनुभूति पर तरस आता है। पन्त जी की 'ग्राम्या' की 'मजदूरनी', 'जाती ग्रामवधू पति के घर' तथा कुछ कविताएँ इसी प्रकार की हैं। यद्यपि 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ चित्रण के विचार से सुन्दर हैं और भाव का भी कहीं-कहीं गहरा प्रकाश है; किन्तु अधिकांश ऐसी नहीं। इसी प्रकार 'आम्र-विहग' के चित्रण में काव्यात्मक अनुभूति तथा सौन्दर्य-भावना का पर्याप्त क्षेत्र है, जिसका कुछ आभास हमें दूसरे प्रकार से शेली के 'स्काईलार्क' और कीट्स के 'नाइटिंगेल' में मिलता हैं। किन्तु निम्नांकितचित्रण उससे कितना दूर है :—

हे आम्र-विहग ! तुम ताम्र सुभग
नव-पर्णों में छिपकर; उँडेलते कर्णों में—
मंजरित मधुर, स्वर-ग्राम प्रचुर,
उन्मुक्त नील, तुम पंख ढील;
उड़-उड़ सलील हो जाते लय।

ठीक इसी प्रकार 'झंझा में नीम' कितनी कलात्मक प्रेरणा उकसाती है। चित्र देखकर ही जहाँ दर्शक का भाव-समुद्र

उमड़ पड़ता है, जहाँ उसी चित्रण में भाव-तन्मयता की कोई सामग्री नहीं।

प्रगतिवाद के नाम पर दूसरा दोष अश्लील चित्रण है। यदि हम एक ओर रीति-कला की कलात्मक कविताओं को भ्रान्त दृष्टि-भंगी से बुरा कहते हुए उनसे भी भद्दी कविताएँ लिखें, तो यह प्रगति नहीं, अगति होगी। प्रगतिवाद के अन्तर्गत आनेवाली कविताओं में उन्मेषशालिनी स्वाभाविक भावनाएँ अपनी यथार्थता को लिए हुए अवश्य चित्रित होनी चाहिए। किन्तु यदि उनमें प्रगतिवाद के नाम पर

> यह सावन की अनमोल रात, इस प्रेरित-लोलित रति-गति में
> जन झूम-झमकता विसुध गात,
> गोरी वाहों में कस प्रिय को, कर दूँ चुम्बन से सुरास्नात।

जैसी कविताएँ हमारे साहित्य में आयँगी, तो हमारी समझ में यह प्रगति नहीं, कुगति ही होगी। इससे तो रीति-कालीन कवियों की ही कविता भली थी, जिन्होंने नायिका-भेद के चित्रण में इस प्रकार की कविताएँ लिखीं। यह वासना और विलास का चित्रण प्रगतिवाद के लिए कीचड़ है, जिसमें अधिकांश प्रगतिशील लेखक फँसे हैं। एक और प्रगतिशील लेखक की प्रगतिशील रचना देखिए :—

> विधु वदन.........' उन्नत पुलकित उभड़े उरोज ;
> यौवन उमंग उद्गम अधीर, छवि सर पर ज्यों फूले सरोज।

उसने फैलाया बाहु - पाश, था उषा - प्रात का आलिंगन ;
मैं झुका मदिर दल अधरों पर अंकित करने विह्वल चुम्बन।

प्रगतिवादी कवि अपने अन्तर्गत प्रगति—अर्थात् समाज और साहित्य को आगे बढ़ाने की भावना—भुला नहीं सकता है। वह सौन्दर्य देख सकता है; किन्तु उसमें अश्लीलता की बीभत्सता लाने का उसे कोई अधिकार नहीं है। नवीन विषयों को लेता हुआ यथार्थ चित्रण का दावा करने का अर्थ यह नहीं है कि हम अमर्यादित रूप में अपनी विलास-भावनाओं के चित्रण का लाइसेंस ले लें। यही बात तो रीति-काल में भी हुई थी, जिसके कारण हिन्दी-साहित्य कलुषित है। श्रीसुमित्रानंदन पन्त की 'ग्राम्या' भी अनभिप्रेत अश्लीलता से नितांत मुक्त नहीं है। मानसिक सहानुभूति कविता में प्राण नहीं ला सकती और न उसके बल पर जीवन का पहलू ही बदला जा सकता है। प्रगतिशील लेखक के हृदय में प्रगति, सामाजिक निर्माण, ग्राम्य सौन्दर्य, करुण कथाएँ और मुरझाए जीवन, प्राकृतिक यथातथ्य चित्रण आदि का प्रमुख स्थान होना चाहिए।

साहित्य की प्रगतिशीलता की ओर प्रायः प्रत्येक साहित्य-स्रष्टा की प्रवृत्ति है; किन्तु कुछ ही की रचनाएँ उच्चकोटि की हैं और कुछ ही मुख्यतः प्रगतिशील कवि हैं "प्रगतिशील धारा के मुख्य कवि हैं—उदयशङ्कर भट्ट, बच्चन, अञ्चल, दिनकर और नरेन्द्र। भट्टजी की विवेचना दार्शनिकता लिए हुए है। 'बच्चन'

जीवन को सूक्ष्म वृत्तियों के साथ घुल-मिल जाने में बड़े प्रवीण हैं। आज उनकी सृष्टि में कवि है, लय में दार्शनिक। 'अंचल' की वाणी में लय और हुंकार है। 'दिनकर' को प्रेरणा भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। 'नरेन्द्र' मस्तिष्क से प्रगतिशील हैं, किन्तु हृदय से रोमाण्टिक।" ('युगारम्भ' में—भगवतीप्रसाद बाजपेयी।)

'अञ्चल' की 'वह मजूर की अन्धी लड़की' और आज चलीं तुम घूंघट खोले' इस साहित्य की उत्तम कविताएँ हैं। 'सर्वहारा' की निम्नांकित पंक्तियाँ कितनी जोरदार हैं:—

फैला लाल धुँआ शोणित का चाक हुआ जाता दिग्मण्डल ;
चमक रही शमशीर नृशंसों की पीने युग का तप-सम्बल।
प्यासी आज विजय की प्यासी लुब्ध विजेता की हुंकारें ;
ध्वंसमयी ओ सुनी न जातीं मानवता की विकल पुकारें।
आततायियों की हिंसा से कँपता अम्बर, धरती रोती ;
युग-युग की जीवन प्रतिमा, तुम आज पड़ी खेतों में सोती।
देखो मुट्ठी-भर दानों को तड़प रही कृषकों की काया ;
कब से सुप्त पड़ी खेतों में, जागो इन्क़लाब फिर आया।

'दिनकर' की 'हाहाकार' कविता में भी इसी प्रकार का बल है। 'नरेन्द्र' की 'प्रभातफेरी'-शीर्षक कविता प्रगति की भावनाओं से ओत-प्रोत है—

आओ हथकड़ियाँ तड़का दूँ, जागो रे नतशिर बन्दी।
उन निर्जीव शून्य श्वासों में आज फूँक दूँ लो नवजीवन ;
भर दूँ उनमें तूफ़ानों का अगणित भूचालों का कम्पन।
प्रलयवाहिनी हो स्वतन्त्र हों, तेरी ये साँसें बन्दी!

इन कवियों के अतिरिक्त सोहनलाल द्विवेदी, शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' गिरिजाकुमार माथुर आदि प्रगतिशील कवि हैं। अपने प्रधान आधुनिक कवियों ने भी इस प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। 'निरालाजी' की 'तोड़ती पत्थर' (यद्यपि इसमें भावना की उतनी तीव्रता नहीं, किन्तु वर्णन तथा व्यंजना प्रबल हैं) तथा 'जागो फिर एक बार' आदि कविताएँ; 'नवीनजी' की 'जूठे पत्ते', कवि 'कुछ ऐसी तान सुनाओ' आदि; भगवतीचरण वर्मा 'भैंसागाड़ी' 'विषमता' आदि सुन्दर रचनाएँ एवं पन्तजी की 'युगवाणी', 'ग्राम्या' के कुछ चित्रण प्रगतिशील साहित्य की सुन्दर विभूतियाँ हैं। 'युगवाणी' के 'दो मित्र' सुन्दर चित्रण है तथा 'ग्राम्या' में एक बूढ़े के शब्द-चित्र की सजीवता देखिए:—

उभरी ढीली नसें जाल-सी सूखी ठठरी से हैं लिपटीं ;
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों सूनी अमरबेलि हो चिपटी।
उसका लम्बा डीलडौल है, हट्टी-कट्टी काठी चौड़ी ;
इस खँडहर में बिजली-सी उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

पन्तजी ने अपनी 'युगवाणी' की 'नवदृष्टि'-शीर्षक कविता

में प्रगतिशील काव्य के लक्षणों का संक्षेप में आभास सा मिलता है :—

> खुल गये छन्द के बन्ध, प्राश के रजत-पाश ;
> अब गीत मुक्त औ, युगवाणी बहती अयास ।
> बन गए कलात्मक भाव जगत के रूप-नाम ;
> जीवन-संघर्षण देता सुख लगता ललाम ।
> सुन्दर, शिव, सत्य कला के कल्पित माप-मान ;
> बन गए स्थूल, जग-जीवन से हो एक प्राण !
> मानव-स्वभाव ही बन मानव-आदर्श सुकर—
> करता अपूर्ण को पूर्ण, असुन्दर को सुन्दर ।

तो प्रगतिशील साहित्य अथवा काव्य यथार्थ में नई धारा है ; किन्तु किस रूप में इसकी नवीनता है, यह भी समझ लेना आवश्यक है । यह प्राचीन काल के आदर्श चित्रण और वीर-पूजा तथा राज-यशगान से भिन्न है । हम किसी व्यक्ति-विशेष का यशगान काव्य में नहीं करना चाहते; कोई महापुरुष अथवा राजा हमारे लिए पूजा की वस्तु नहीं हो सकता । हमारी वैज्ञा-निक खोजों ने संसार का रहस्य हमें समझा दिया है । मनो-विज्ञान ने आंतरिक रहस्य खोलकर रख दिया है । अतः अब हम वैज्ञानिक सत्यता पर ही काव्य की नींव डालना चाहते हैं । साथ ही हमें प्रेम, करुणा, हास्य को उकसानेवाले दृश्य साधा-रण और विशेष रूप से निरीक्षित जीवन में मिलते हैं, उनका ही चित्रण करना प्रगतिवाद का ध्येय है । जब कि आदर्शवाद

एक आदर्श के पीछे यथार्थ की हत्या कर सकता है, प्रगतिशील यथार्थ का ही चित्रण करता है।

रहस्यवाद भी इससे भिन्न है, क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, प्रगतिवाद यथार्थ जीवन से ही सम्बन्धित है, जीवन के पार की बात नहीं करता। इसकी सबसे प्रबल माँग है पूर्ण और स्वस्थ जीवन की, जिसमें शारीरिक विकास के प्रति उदासीनता और स्वाभाविक भावनाओं का कुचलना नहीं है। यह धार्मिक भावना को सामाजिक रूप में देखता है। यदि कोई जीवन में नित्य अनेक अत्याचार और पाप करके सन्ध्या को पूजा और नमाज़ पढ़कर, रोज़ा रख, गंगा नहा अथवा चर्च में जाकर अपने को फिर पुण्यशील कहने का दावा करता है, तो ऐसा धर्म हमें नहीं चाहिए। धर्म व्यवहार की वस्तु है, कल्पना और एकान्त की वस्तु नहीं है। वह सामाजिक है। जो-कुछ हम धर्म समझते हैं, वह मानव-जाति के कल्याण में है। यही प्रगतिशील साहित्य के अन्तर्गत स्वाभाविक धार्मिक भावना है, जिसे लोग अधार्मिक दृष्टिकोण समझते हैं। जिसका हृदय एक भिखारी के शीत से व्याकुल शरीर को एक कपड़ा देने के लिए व्यग्र होता है, वह चाहे माला न फेरता हो, फिर भी धार्मिक है। यही धार्मिकता का ध्येय है। प्रगतिशील साहित्य अन्याय के विरुद्ध अपनी ध्वनि घोषित करता है, चाहे वह सामाजिक, वैयक्तिक अथवा राजनीतिक ही क्यों न हो, और जिसका हृदय से इस प्रेरणा में उद्‌गार होने लगता है, वही प्रगतिशील कवि है।

छायावाद भी प्रगतिशील से अनुभूति और विचार में भिन्न है, यद्यपि अभिव्यंजना में दोनों एक हैं। छायावाद प्रारम्भ में बँगला-कवियों में रहस्यवाद का ही समानार्थी था ; किन्तु हिंदी में जिस रूप में यह छाया और जिस रूप में लोग इसे समझते हैं, वह प्रायः अंगरेजी के 'रोमान्टिसिज्म' से समता रखता है। अपनी आन्तरिक प्रेम या वेदना की भावना को अनूठे प्रतीकों, प्रकृति के चित्रण अथवा अन्य कलापूर्ण उपायों से प्रकाशित करना, जिससे कि वैयक्तिक भावना विश्व-भावना का आभास दे सके, छायावाद समझा जाता है। इसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से विशेष है। और इसी में यह प्रगतिशील साहित्य से समानता रखता है। प्रकृतिचित्रण में भी जहाँ तक यथार्थ दर्शन है, वहाँ पर प्रगतिवाद है और जहाँ पर कलात्मक हो जाता है और अस्पष्ट होकर भाव के तीखेपन को मन्द कर देता है, वहाँ पर उससे भिन्न है। प्रगतिवाद में प्रकृति-चित्रण किसी भाव-प्रकाशन अथवा चरित्र-चित्रण के लिए एक पृष्ठभूमि का काम देता है।

छायावाद की भाँति प्रगतिवाद की वेदना जीवन से दूर भागने और उस पार झाँकने अथवा अज्ञात से अस्पष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए विकलता के रूप में नहीं, वरन् वह दुःखमय जीवन पर आँसू डालने के रूप में है। वह हमें दुःख और अत्याचार का सामना करने के लिए एक शक्ति और स्फूर्ति देने के लिए है। सड़े हुए सामाजिक विषयों में और

अवाञ्छनीय रूढ़ियों में एक उथल-पुथल करने के लिए है। वह हमें शिष्टता के समीप ले जाकर मानव-जीवन के विकास को प्रेरणा देता है। वह अनदेखे स्वर्ग के गीत नहीं गाता, वरन् प्रत्यक्ष देखे सौन्दर्यपूर्ण, शिष्ट तथा सुखी समाज का चित्र दिखाता है। और दुखी जीवन पर आँसू बहाता तथा अन्यायी व अत्याचारी के प्रति घृणा, क्रोध तथा कठिनाइयों में उत्साह का स्थायी भाव भरता है। साधारण जीवन में वह हास्य का संचार करता है, यही उसकी विशेषता है।

प्रगतिशील साहित्य में रस, भाव, कला, छन्द सभी प्रगतिवान, स्वस्थ जीवन की ओर अग्रसर करनेवाले, स्वाभाविक और हृदय पर गहरा प्रभाव डालनेवाले होते हैं। इन सभी अंगों को प्राप्त कर ही यह प्रगति का पौदा पनप सकता है और बढ़कर इतना विशाल हो सकता है कि इसकी छाया में विश्व का साम्राज्य हो। अनेक देशों के साहित्य, रंग-विरंगे पक्षी बनकर इसकी शाखाओं में निवास करें और अपनी प्रेममयी मधुर वाणी से जीवन के राग अलापें। यही वह पूर्वश्रुत साहित्य का अक्षयवट होने की शक्ति रखता है, जिसे राजनीतिक प्रलय कभी भी विध्वंस न कर सके और तूफ़ान-प्रवाह के प्रत्यावर्तन के पश्चात् भी जिसकी विशाल शाखाएँ सपुष्ट बाँहों के समान दुखियों के आश्रय तथा त्राण एवं समकक्षी के सप्रेम आलिंगन के लिये फैली रहें।

———

चैती

४

चैती

किसी भी जाति के लोकगीत उसकी संस्कृति की धरोहर हैं; वर्ष की विभिन्न ऋतुओं, त्यौहारों, उत्सवों और संस्कारों के समय समस्त जाति या वर्ग विशेष के हर्ष और विषाद के चित्रण हैं। लोकगीतों की हमारी परम्परा बहुत पुरानी है। वैदिक काल से लेकर आज तक के लोकगीतों में हमारी जाति और हमारे समाज का स्वभाव स्पष्ट है। यह वह स्वभाव है कि जिसके बनाने में किसी ने कोई प्रयत्न नहीं किया, यह वह भावना है जो प्राकृतिक जीवन के साथ हमारे अन्तर्गत प्रवेश कर गई है, यह वह संस्कृति है जिसका शिक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं, फिर इन लोकगीतों में प्राप्त संस्कृति के द्वारा हमारा जातीय बल-वैभव, आकांक्षायें, लालसायें, हृदय की उदारता और करुणा, अत्याचार और अन्याय पर असन्तोष आदि की भावना, प्रकृति के साथ जीवन का लगाव, पशु-पक्षियों से प्रेम, पारस्परिक, पारिवारिक और सामाजिक व्यवहार आदि भली भाँति स्पष्ट होते हैं।

इन गीतों की प्राचीन परम्परा है, इस बातसे यह स्पष्ट नहीं होता कि इनका अधुनिक मोल नहीं है। इनके अन्तर्गत प्रकाशित

अनेक भावनायें ऐसी हैं, जो इतनी आधुनिक हैं कि आज भी हमारे हृदय में आन्दोलन उठा सकती हैं। अपनी इस बात को स्पष्ट करने के लिये मैं एक ऐसे गीत का भाव देता हूँ जिसमें एक साधारण, सीधे, सादे, निर्दोष और मूक पशु के प्रति, एक प्रसिद्ध राजा के द्वारा किये गये निर्दय और कठोर व्यवहार का वर्णन है। गीत का भाव यह है :—

"ढाक का घने पत्तों से भरा हुआ एक छायादार पेड़ है, उसके नीचे खड़ी हुई हिरणी अपने हिरण को देखकर विसूर रही है। उसे देखकर हिरण ने कहा कि हिरणी तुम, क्यों दुखी हो, क्या तुम्हारा चरहा सूख गया है, या तुम्हें और कोई कष्ट है। हिरनी बोली—न मेरा चरहा सूख गया है और न कोई कष्ट है। मैं दुःखी इस बात से हूँ कि कल राजकुमार की छठी है, और उसकी खुशी में मेरा हिरन मार डाला जायगा। दूसरे दिन हिरन मारा गया। रोती हुई हिरणी कौशल्या के पास गई और बोली कि महारानी, मेरे हिरन का मांस तो रसोई में पक रहा है, उसकी खाल जो सामने टँगी है मुझे दे दो, तो मैं उसे देख-देखकर अपना दुःख दूर करूँगी। कौशल्या ने कहा—हिरनी जाओ, खाल तुम्हें नहीं मिलेगी। इसकी खंजुली मढ़ी जायगी और मेरा राम उसे खेलेगा। हिरनी उदास चली गई।

जब-जब वह खंजुली बजती है, तब-तब, उसी ढाक के पेड़ के नीचे खड़ी होकर हिरनी हिरन की याद में विसूर-विसूर कर रोती है।"

इस गीत में कितनी करुणा और विवशता का भाव चित्रित है। एक प्राणी के जीवन का अपहरण करके दूसरे प्राणी का खेल और उत्सव पूरा हो— सरल और स्वच्छ हृदय इसे सह नहीं सकता। सम्पन्नों का विपन्नों और निर्धनों के प्रति जो इसी प्रकार का व्यवहार है, उस पर आज कल की बड़ी लम्बी वक्तृता भी इतना तीखा और प्रभावशाली आघात नहीं लगा सकती, जितना ऊपर कहे सरल ग्राम गीत के अन्तर्गत है। कहने का तात्पर्य यही है कि ग्रामगीतों के भीतर सजीव संस्कृति और जीते जागते भावों के चित्रण हैं, और उनके भीतर आधुनिक सभ्यता के नये प्रतीक भी अपना समुचित प्रवेश पा रहे हैं।

ग्राम गीतों के कुछ प्रकार तो ऐसे हैं जो कि लगभग अधिकांश भाषाओं और बोलियों में स्थान पाये हुए हैं। उदाहरण के लिये, सोहर, बिवाह, जनेऊ, जाँत, सावन-हिंडोले, बारह मासे, फाग, मलार, झूमर आदि के गीत लगभग भारत भर में प्रचलित हैं। किन्तु कुछ प्रादेशिक लोक गीत भी हैं जो प्रदेश विशेष की सम्पत्ति हैं जैसे तिरहुति, सम्मरी आदि मिथिला के लोक गीत, और विरहा, चैतो, बटोहिया आदि भोजपुरी के लोक गीत। हिन्दी की बोलियों में लोक गीतों के विचार से सबसे समृद्ध भोजपुरी है। यद्यपि अवधी बुन्देली, ब्रज, कन्नौजी आदि के भी अपने लोक गीत हैं, पर भोजपुरी के सामान संख्या और विविधता दोनों में ही, अन्य बोलियों के गीत नहीं ठहरते। इसका कारण है। ब्रज, अवधी बुन्देल खण्डी में प्रसिद्ध कवियों-द्वारा

लिखित रूप में ही बहुत साहित्य पाया जाता है और उस साहित्य के अन्तर्गत भी बहुत से ऐसे गीत हैं जो लोक गीतों के रूप में भी प्रयुक्त होते रहे हैं, पर भोजपुरी का अपना लिखित साहित्य नगण्य होने के कारण, उस प्रदेश के उपयोग के लिए, जन साधारण की प्रतिभा इन लोकगीतों के रूप में फूट निकली है, इसी कारण हमें इतने सुन्दर और विविध लोक गीत भोजपुरी में मिलते हैं।

'चैती' इसी लोक गीतों में समृद्ध भोजपुरी के गीतों का एक प्रकार है। इसको ऋतु विशेष का गीत मानना चाहिये। यह उत्तरी भारत के एक विशेष प्रदेश में, बसन्त ऋतु, के अन्तर्गत चैत मास में गाया जाने वाला लोक गीत है। ऋतु-सुलभ सुषमा के साथ चैती का उल्लास-पूर्ण मादक प्रवाह जितना मनोहारी होता है, उसका पूर्ण अनुभव तो उसी अवसर पर तन्मय गायकों के मुख से सुनकर ही किया जा सकता है। जिस प्रकार वर्षा ऋतु के विशेष गीत, कजली, मलार, सावन और हिंडोला आदि हैं, इसी प्रकार बसन्त ऋतु के फाग, झूमर और चैती आदि गीत हैं।

चैती, बसन्त ऋतु की प्रौढ़ावस्था का लोक गीत है। फाग और झूमर आदि भी बसंत के प्रारम्भ अर्थात् किशोरावस्था के गीत हैं। इनमें उल्लास का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है, पर 'चैती' गीतों में आनन्द, और उल्लास अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त होता है। यों भी

ऋतु-गणना की दृष्टि से बसंत ऋतु के अन्तर्गत आने वाले महीने चैत और बैसाख हैं जिन्हें मधु और माधव भी कहते हैं। फाल्गुण का महीना—जिसमें फाग और झूमर गाये जाते हैं—वसंत के आगमन का संकेत मात्र करता है। यथार्थ में बसंत का आगमन चैत में होता है और इसी मधुऋतु के समय, मधुमास में गाये जाने वाले विशेष लोक गीतों को 'चैती' कहते हैं। जैसा कहा जा चुका है चैती गीतों का विशेष प्रचार मैथिली और भोजपुरी में ही है। मैथिली में इन 'चैती' गीतों को 'चैतावर' कहते हैं और भोजपुरी में चैती, चैता या घाँटी नाम से भी विख्यात हैं।

'चैती' के गीत मानों लोक की आनन्दमयी भावना और उल्लास का सहज स्फोट हैं। सुहावना मधुमास जब आता है तब चारों ओर प्रकृति, नवल कोपलों, किसलयों, मादक बौरों और फूलों से सजी हुई नया रूप धारण करती है। टेसू के लाल लाल फूल जहाँ वायु को सिंदूरी रंग में रँगे देते हैं, वहीं करौंदों, नीम, आम की मंजरियों तथा गुलाब आदि से निकली हुई भीनी मँहक, उसे अनुभव गम्य बनाती है। उसके प्रभाव से मन मस्त और हृदय गद्गद हो जाता है। इस प्रकृति के सहज उल्लास से मतवाली होकर कोयल गाने और मोर नाचने लगते हैं और इनके गान-नृत्य की लहरियों में जड़, वृक्ष और वल्लरियाँ झूम उठते हैं। ऐसे समय भला सबसे अधिक संवेदना-शील मानव-समाज इस मधु-ऋतु के मादक प्रभाव से कैसे

अछूता रह सकता है। स्वाभाविक उल्लास के साथ उसके 'चैती' के गान फूट पड़ते हैं।

वह गा उठता है:—

कौने मास फुलेला गुलबवा हो रामा,
कौने रे मासे।
बेला फूले, चमेली फूले अवरु फुलेला कचनरवा हो रामा,
कौने रे मासे।
गेंदवा जो फूले रामा, माघ रे फगुनवा,
चैत मासे फूले रे गुलबवा हो रामा।
(कौने मास फुलेला गुलबवा हो रामा)

जिस प्रकार 'चैती' गीतों का समय बड़ा ही सुहावना और ऋतु निराली होती है, वैसे ही इन गीतों के गाने का ढंग भी निराला होता है। प्राय इनके प्रारम्भ में 'रामा' और अंत में 'हो रामा' पदों का प्रयोग किया जाता है। गीत का प्रारम्भ ऊँचे स्वर में किया जाता है, बीच में अवरोह या उतार होता है और अन्त में फिर आरोह या चढ़ाव होता है। स्वर का मधुर चढ़ाव-उतार, गीतों में एक विचित्र माधुरी और आनन्द भर देता है। मस्ती से भरे हुये इन 'चैती' गीतों में दुखियों को भी प्रसन्न कर देने की शक्ति होती है। इन गीतों का विषय प्रायः प्रेम, ऋतु-सुलभ मस्ती और विरह या उपालम्भ आदि होते हैं। गीतों के भाव और ध्वनि दोनों ही ऐसे होते हैं कि सुनने

वाले का हृदय द्रवित हो जाता है और वह उसी विशेष भाव या मस्ती में बहे बिना नहीं रह सकता। इसीलिये जब चैत का महीना आता है, तो कहीं भी 'चैती' की धुन सुन कर सैकड़ों आदमियों की भीड़ लग जातो है। धीरे धीरे मधुर और विलम्बित लय में 'चैती' द्वारा उपस्थित की गई भावना और दृश्य बड़े ही रंगीन लगते हैं और बिछोहियों के हृदयों में भी गुदगुदी पैदा करने वाले होते हैं। ये अश्वासनकारी गीत प्रायः सामुहिक रूप में पुरुषों-द्वारा ही गाये जाते हैं। भोजपुरी के 'चैती' गीतों में बुलाकीदास का नाम अधिक आता है जिससे पता चलता है कि ये कोई प्रसिद्ध 'चैती' गीतों के रचयिता थे जैसे बुन्देली में इसुरी, फागों के।

यह संक्षेप में 'चैती' का परिचय हुआ। अब हम कुछ प्रसिद्ध 'चैती' गीतों के भावों और दृश्यों का विश्लेषण कर उनकी मनोहारिता को स्पष्ट करेंगे। चैत में कोयल बोलती है। एक रानी कोयल का बोल सुनकर कहती है कि हमारी अटारी पर कोयल बोलती है। उसने सोते हुए मेरे पति को जगा दिया, दूसरे दिन तो कोयल संध्या और सबेरे बोलती थी, आज क्या बात है कि आधी रात के समय कोयल कूक रही है और उसने हमारे सोते पति को जगा दिया। गीत यों हैः—

रामा कोयली बोलत हमारी अटरिया,
सूतल पिया भोर जागल, हो रामा।

रामा आज दिन बोले कोयली साँझ भिनुसरवा,
आज कौना बोलै आधीरतिया, हो रामा।
कोयली बोलल हमारी अटरिया,
सूतल पिया मोर जागल, हो रामा।

ऊपर के गीत में आनन्द को भंग करने वाली कोयल के प्रति उपालम्भ है; आगे के गीत में उल्लास को बढ़ाने वाले और प्रकृति को आनन्द-मग्न कराने वाले पक्षियों के बोलने पर हर्ष का भाव व्यक्त हुआ :—

रानी सुगना बोले हमारी अटरिया, हो रामा
मैना भी बोले तूती भी बोले,
औ बोलेला भंगरजवा। हो रामा,
बेला भी फुलला चमेली फुलली
और फुलले लाग गुलबवा। हो रामा
सुगना बोले॥
हमारी अटरिया। हो रामा

इस गीत में 'बसंत' में चारों ओर बिखरे फूलों की सम्पत्ति पर हर्ष प्रकट किया गया है मानों प्रकृति की इस समृद्धि पर, सुआ, मैना, तूती, भृंगराज आदि पक्षी भी प्रसन्नता प्रकट करते हुए बोलने लगते हैं। यह तो प्रकृति के बाह्य और व्यापक उल्लास का चित्रण हुआ। अब एक 'चैती' में प्रेम-भाव का

चित्रण देखिए। गीत का भाव यह है :—छोटी अवस्था की ग्वालिन सिर पर मटुकी रखकर मथुरा नगर को दही बेचने के लिए चली। जहाँ-जहाँ ग्वालिनि मटुकी रखती है, वहीं उसके रूप पर मुग्ध राजा का कुँअर अपना तम्बू लगवा देता है। ग्वालिन उससे कहती है कि हे राजा के कुंअर! आगे होकर चलो, नहीं दही की छींटें तुम्हारे ऊपर पड़ जायँगी। राजा का कुँअर उत्तर देता है—ग्वालिन तुम्हारे लेखे ये दही के छींटें हैं, पर मेरे लेखे तो देवता अगर और चन्दन बरसा रहे हैं। चढ़ते चैत में इस चैती गीत को गाकर सखी विरहिन को समझा रही हैं। गीत सुनिये :—

रामा छोटि मोटि ग्वालिनि सिर तो मटुकिया, हो रामा।
चलि भइल मथुरा नगर दही बेंचन। हो रामा।
रामा जहाँ जहाँ ग्वालिनि धरेले मटुकिया, हो रामा।
तहँ-तहँ कुँअर तनावे तमुआ। हो रामा।
रामा, आगू होख आगू होख राजा के कुँअरवा, हो रामा।
परि जइहैं दही के छिटकवा। हो रामा।
रामा तोरा लेखे ग्वालिनि दही के छिटकवा, हो रामा।
मोरा लेखे अगर चनन देव बरिसे। हो रामा।
रामा चढ़ ले चइतवा, चइत घाँटो गावे, हो रामा।
गाइ-गाइ बिरहिन सखि समुझावे। हो रामा

इस गीत में 'प्रेम-भाव' के वर्णन द्वारा विछोही को समझाया

गया है। अब आगे के गीत में बिरहिन स्वयं आस पास की प्रकृति में फैले व्यापक प्रभाव की ओर संकेत करके, अपनी विकलता का वर्णन कर, प्रवासी पति को उलहना दे रही है। गीत का भाव यह है :—

मेरे पति ने पाती नहीं भेजी। उत्पात करने वाला चैत आ गया, पर पति की पाती नहीं आई। बिरही कोयल अपने शब्द सुना रही है जिन्हें सुन कर मुझे रात में नींद नहीं आता। बाग में बेला चमेली फूले हैं और मेरे शरीर में यौवन फूल रहा है फिर भी प्रिय ने पाती नहीं भेजी।

गीत यह है :—

नइ भेजे पतिया
आयल चैत उतपतिया, हे रामा
नइ भेजे पतिया
विरही कोयलिया शब्द सुनावे
कल न पड़त अब रतिया, हे रामा
नइ भेजे पतिया
बेला-चमेली फूले बगिया में
यौवन फूलल मोर अँगिया, हे रामा
नइ भेजे पतिया।

इस प्रकार जैसा अभी कहे गये उदाहरणों से प्रकट ह चतियों में व्यापक भावना, प्रेम, बिरह या प्रकृति की बहार और

मस्ती की रहती है। इसी से जब गदराये महुए अपनी मस्ती के प्रतीक रस-भरे अंगूर टपकाते हैं और चैती बयारि चल कर सारी हरी हरी खेती को प्रौढ़ता और सुनहरी आभा प्रदान करती है, ऐसे समय इन चैती गीतों की धुन को सुनकर मनुष्य क्या, पशु-पक्षी तक मस्त हो जाते हैं। इन चैतियों में कुछ तो राम-जन्म, रामचरित, और कृष्णचरित्र सम्बन्धी धार्मिक और पवित्र भावनाओं को लेकर भी लिखी गई हैं, और कुछ देश-प्रेम के भी प्रवाह में प्रवाहित हुई हैं। जिस देश की परतंत्रता के समय की 'चैतियाँ' इतनी स्वच्छ और सबल भावनाओं से भरी हैं, उस देश की स्वतंत्र अवस्था की 'चैतियाँ' और भी व्यापक, स्वस्थ, समृद्ध, उच्च तथा आह्लादकारी होंगी। और हमारी संस्कृति, विश्वासों और आकांक्षाओं का बँधा हुआ प्रवाह, अब इन गीतों में खुल कर बहेगा। ❀

———

❀ 'आल इण्डिया रेडियो' के सौजन्य से।

हिन्दी काव्य में
भाव-प्रकाशन की स्वाभाविकता

५

हिन्दी काव्य में
भाव-प्रकाशन की स्वाभाविकता

यदि हम हिन्दी काव्य पर एक व्यापक दृष्टि डालें तो हमें इस बात का पता चलता है कि हिन्दी काव्य अधिकतर जन-साधारण के लिये लिखा गया है, साहित्य के विद्वानों और पंडितों के लिये नहीं। इस कथन के प्रतिवाद-स्वरूप कुछ ही इनी गिनी रचनायें जैसे सूर के दृष्टिकूट, कबीर की उलट-बाँसियाँ, तथा रीतिकालीन कवि केशव, सेनापति, बिहारी, पद्माकर आदि की कुछ रचनायें निकलेंगी जिनमें प्रेरणा अपनी विद्वत्ता प्रकाशित करने की है। अन्यथा हम चन्द व विद्यापति की प्रारम्भिक हिन्दी की रचनाओं से लेकर रीति-कालीन रचनाओं तक को जन-साधारण के लिये लिखा मान सकते हैं जिनमें जन-साधारण की भाषा का प्रयोग है। विद्यापति ने कह ही दिया है "देसिल बअना सब जन मिट्ठा, से तैसन जम्पओं अवहट्ठा।" और कबीर के लिए तो कहना ही क्या है जो लोक भाषा ही जानते हैं और कहा भी है:—

"संस्कृत कूप जल कबीरा, भाषा बहता नीर।" इसी बहते

नीर में ही काव्य-रस घोल कर हिन्दी के कवियों ने उसे सर्वजन-सुलभ किया है। वैसे हिन्दी के उदय के साथ साथ यह प्रवृत्ति भी जगती दिखलाई देती है कि ज्ञान को, साहित्य को लोक-मुखी किया जावे। *

इस कारण हम देखते हैं कि हिन्दी कविता के भीतर प्रकाशन स्वाभाविक और सामान्य लोक-भाषा में हुआ है। और इस बात में यह संस्कृत काव्य से भिन्नता रखती है जोकि अधिकांश विद्वानों की सम्पत्ति रहा। हिन्दी की इस प्रवृत्ति अथवा विशेषता का परिचय हम उसके अन्तर्गत प्रमुख कवियों के द्वारा प्रयुक्त बोलचाल के शब्दों और मुहावरों में पा सकते हैं।

हिन्दी के बहुत से कवि संस्कृत भाषा के भी पंडित थे अतः उनकी कविताओं में हमें कभी कभी संस्कृत पदावली भी मिलती है; पर वह उनकी कविता की यथार्थ प्रवृत्ति नहीं। इस प्रकार की शब्दावली के प्रयोग के दो कारण हैं पहला यह कि

---

* "ऊपर की बातों से अगर कोई निष्कर्ष निकाला जा सकता है तो वह यही हो सकता है कि भारतीय पाण्डित्य ईसा की एक सहस्राब्दी बाद आचार विचार और भाषा के क्षेत्रों में स्वभावतः ही लोक की ओर झुक गया था।"

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' पृ० १४-१५

संस्कृत काव्यों में प्रयुक्त उपमानों को उसी सघनता के साथ प्रयुक्त करना और दूसरे अपने नायक का संस्कृत काव्यों में वर्णित स्वरूप के समकक्ष रूप खड़ा करना, पर यहाँ पर कवि कोई भी नई अनुभूति या विचार को लोगों तक नहीं पहुँचाना चाहता। जहाँ वह आनन्द और मौज में लिखता है वहाँ पर भाषा लोक-भाषा है, प्रचलित शब्दावली है। उदाहरणार्थ सूर के द्वारा कृष्ण की बाल्यक्रीड़ा-वर्णन में देखिये। वे जहाँ परम्परागत उपमानों को लेकर नखशिख वर्णन करते हैं वहाँ भाषा संस्कृत शब्दों को लिये हैं और लोकभाषा नहीं है जसेः—

देखि री हरि के चंचल नैन।
खञ्जन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन।
राजिव दल इन्दीवर सतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे बिगसत, ये बिगसे दिन रात।
अ्रसन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मानौं सरस्वति गङ्ग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय॥

किन्तु यह उदाहरण उनकी स्वाभाविक कविता का नहीं, यह कल्पना-प्रधान है। इसके विपरीत सूर की कविता का अधिकांश जनसाधारण की मुहावरेदार भाषा के प्रयोग से भरा है देखिये—

जेंवत कान्ह नन्द इकठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर, बालक हैं अति भोरे।

बड़ो कौर मेलत मुख भीतर, मिरच दसन टुक टोरे।
तीछन लगी नयन भरि आये रोवत बाहर दौरे।
फूँकत बदन रोहिनी ठाढ़ी लिये लगाय अकोरे।
सूर स्याम को मधुर कौर दे कीन्हें सात निहोरे॥

इन भक्त कवियों का उद्देश्य अपने और सभीजनों के आनंद के लिये लिखना था। अतः भाषा बोलचाल की होना स्वाभाविक था। रीतिकालीन काव्य के अन्तर्गत भी भाषा की स्वाभाविकता मिलती है क्योंकि चाहे उनका उद्देश्य काव्य-शास्त्र पर ही ग्रंथ लिखना क्यों न रहा हो, वे ग्रंथ जिनके लिए लिखे गये वे विद्वत्ता की दृष्टि से साधारण जन ही थे। इसी कारण से जनसाधारण की भाषा-प्रयोग की प्रवत्ति का परिचय हिन्दी काव्य में बराबर मिलता है। रीतिकालीन काव्य में भी लक्षण-उदाहरण सभी लोकभाषा में हैं और व्याख्या भी प्रचलित गद्य में। काव्यशास्त्र को सर्वजन-सुलभ बना देना उनका उद्देश्य था। कविप्रिया में केशव ने लिखा ही है—

"समुझै बाला बालकहु वर्णन पन्थ अगाध।"

'बाला बालकन' को समझाने के लिए यह ग्रन्थ निमित हुआ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी काव्य की भाषा स्वाभाविक लोक-भाषा है और यह एक बड़ा कारण था कि इसके प्रति संस्कृत-विद्वानों की घृणा और तिरस्कार की दृष्टि होने पर भी लोक में इसका प्रवाह फैलता ही रहा। यदि इसका

सम्मान होता तो केशव जैसे पण्डित और तुलसी जैसे महात्मा को हिन्दी में लिखने के लिये लज्जा और हीनता की भावना का सामना न करना पड़ता। उदाहरण के लिए यदि हम उन कवियों को लें जिनका उद्देश्य 'कविता' करना था, कवि के रूप में जो सम्मानित थे और जिन्होंने इस दृष्टि से लिखा था कि विद्वान् और सहृदय उसका पठन करेंगे तो उनके हम चुने हुए छन्दों में ही नहीं वरन् अधिकांश छन्दों में स्वाभाविक लोकभाषा के प्रयोग की विशेषता पाते हैं।

चन्द की भाषा तो वैसे भी चलताऊ और बोलचाल की भाषा है, फिर अधिकांश युद्ध वर्णन है जिसके लिए 'प्रसाद' गुण विशेष रूप से अपेक्षित है। कोई भी छन्द क्यों न हो उसमें उस समय की अपभ्रंश-मिश्रित भाषा के काव्य का स्वरूप मिलता है। एक छन्द[1] देखिये—

"मचै कूह कूहं बजे सार सारं ; चमक्कै चमक्के करारं सुधारं।
भभक्कै भभक्कै बहै रक्त धारं ; सनक्कै सनक्के बहैं बान भार ॥ ३१
हबक्कैं हबक्कैं बहै सेल भेलं ; हलक्कै हलक्कै मची ठेल ठेलं।
भुकैं कूक फूटी सुरंतान ठानं ; वकी जोग माया सुरं अप्प थानं ॥ ३२

विद्यापति का भाषा-विषयक उद्देश्य तो 'देसिल बअना सब जनमिट्ठा' से प्रकट है ; वैसे इन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी तीनों में कवितायें की हैं पर बोल चाल की भाषा में की गई

१. पृथ्वीराज रासो 'पद्मावती समय'।

कवितायें हो सर्वजनों को कण्ठहार हैं। तुलसी और सूर की कवितायें और पद, लोक-भाषा में हैं इसका प्रमाण उनकी लोक-व्याप्ति है। और उसके उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में उनके ग्रंथों में प्राप्त होते हैं, जो भाषा की स्वाभाविकता पर भी प्रकाश डालते हैं। रीति काल में जब कि कवियों का उद्देश्य जन-साधारण के लिए लिखना कम था वरन् भाषा-काव्य के रसिकों के लिए लिखना था उस समय में भी प्रमुख कवियों की रचनाओं पर दृष्टिपात करने से भाषा की स्वाभाविकता और प्रचलित शब्दों और मुहावरों का प्रयोग मिलता है। 'देव' को कविता से दो उदाहरण देखिये :—

"देव मैं सीस बसायो सनेह सों भाल मृगम्मद बिन्दु कै भाख्यौ।
कंचुकी मैं चुपर्यों करि चोवा लगाय लियौ उर सों अभिलाख्यौ।
लै मखतूल गुहे गहने रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ।
साँवरे-लाल को साँवरों रूप मैं आँखिन मैं कजरा करि राख्यौ॥

मंजुल मंजरी पंजरी सी है मनोज के ओज सम्हारति चीरन।
भूख न प्यास न नींद परै, परी प्रेम अजीरन के जुर जीरन।
'देव' घरी पल जाति घुरी अँसुवान के नीर उसास समीरन।
आह! न जाति अहीर अहे तुम्हैं कान्ह कहा कहौ काहू की पीर न॥

ऊपर की पंक्तियों में—बसायो, चुपर्यो, मखतूल, चाख्यौ, साँवरे, आँखिन, कजरा, पँजरी, सम्हारति, जुर-जीरन, घुरी,

उसास, अँसुवान, पीर आदि लोक-प्रचलन का बल और सजीवता लिये हुए हैं। अपने बीच में इन्हें बोलते हम सुनते हैं। भाव और उपमायें भी नित्य के जीवन से ली गई हैं इसी से इनमें स्वाभाविक भाषा का सौन्दर्य है। यह सौन्दर्य रीतिकाल के उत्तम कवियों में सर्वत्र मिलता है। मतिराम के दो छन्द देखिये :—

"मानहुँ पायो है राज कहूँ चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोढ़े।
गुंज गरे सिर मोर पखा, मतिराम जू गाय चरावत चोढ़े।
मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा, गहे हाथन सो रही चूनरि पोढ़े।
ऐसे ही डोलत छैला भये तुम्हैं लाज न आवति कामरि ओढ़े॥[१]

"क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन कौ तन-पानिप पीजे।
नेक निहारे कलंक लगै इहि गाँव बसे कहो कैसे कै जीजे॥
होत रहै मन यों 'मतिराम' कहूँ बन जाय बड़ो तप कीज।
ह्वै बनमाल हिये लगिये अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजे॥"[२]

ऊपर के वर्णन में प्रचलित शब्दों और मुहाविरों का सौन्दर्य है। इनमें ब्रजभाषा का बोलचाल का माधुर्य है। प्रत्येक शब्द पर कुछ कहना व्यर्थ है। सुन्दर मुहावरे जैसे ;—'मानहुँ पायो है राजकहूँ' 'चोढ़े चरावत', 'हरा तोर्‌यो', 'छैलभये डोलत',

---

१. रसराज, छं० ३७२

२. ललितललाम, छं० ३२३,

'लाज न आवत कामरो ओढ़े' आदि बड़े ही आकर्षक हैं। आँखिन, निरसंक, नेक, गाँव, अधरा आदि लोक भाषा के शब्द हैं। बिहारी के दोहों में अर्थ-गाम्भीर्य चाहे जो हो पर भाषा प्रचलित मुहावरेदार ब्रजभाषा ही है; उदाहरणार्थ देखिये :—

"मुँह धोवति एँडी घसति, हँसति अनगवति तीर।
धँसति न इंदीवर नयनि कालिंदी के नीर॥
बतरस लालच लाल के मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसे, देन कहै नटि जाय॥
ललन चलन सुनि पलन में अँसुआ झलके आय।
गई लखाइ न सखिन्ह हूँ झूठे ही जमुहाइ॥

बिहारी के दोहे प्रचलित शब्दों और मुहावरों स भरे हुए हैं। यह विशेषता इन्हीं कुछ कवियों में नहीं वरन् सभी कवियों में मिलती है। घनानंद, रसखान, बोधा, आलम आदि स्वच्छन्द प्रेमगीत लिखने वाले कवियों की कविता तो स्वाभाविक भाषा से भरपूर है ही जैसा कि अन्यत्र अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है हिन्दी की यह विशेषता वर्तमान काल की कुछ समय तक की रचनाओं को छोड़कर सर्वत्र मिलती है और वहीं पर काव्य प्रभावशाली भी हैं जहाँ भाव-प्रकाशन स्वाभाविक भाषा में हुआ है।

ऊपर के उदाहरण तो इन कवियों की कविताओं से दिये

गये हैं जो विद्वान् कवि हैं और जिन्होंने विद्वानों के निमित्त भी लिखा है। जब उनमें भाषा की स्वाभाविकता हमें मिलती है तो उन कवियों की बात क्या कहनी है जिन्होंने कि जन साधारण के लिये ही लिखना अपना उद्देश्य समझा था, जो भाषा के विद्वान् भी न थे और न विद्वत्ता दिखाने का प्रयत्न ही जिन्होंने किया है। इन्होंने स्वाभाविक भाषा में ही अपने उच्च भावों को प्रकट किया है। इनके काव्य की दुरूहता, विचार या भाव की सूक्ष्मता के कारण हो सकती है; भाषा की क्लिष्टता के कारण नहीं। इनमें से संत-कवियों की भाषा तो, अनेक बोलियों के शब्द मिलने से और भी लोक-सुलभ हो गई है। कबीर और जायसी की भाषा नितान्त लोक-प्रचलित, स्वाभाविक भाषा है। कबीर की कविता के कुछ उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि उनकी भाषा बड़ी ही सरल और स्वाभाविक है :—

सुमिरन की सुधि यों करैं ज्यों गागरि पनिहारि।
हालै डोलै सुरति में कहैं कबीर विचारि॥
माटी कहै कुम्हार सूँ, तू क्या रौंदै मोहि।
इक दिन ऐसा होयगा मैं रौंदूँगी तोहि॥
बिरहिन ओदी लाकड़ी सपुचे औ धुँधुआय।
छूटि पड़ौं या बिरह ते जो सिगरी जरि जाय॥
कबिरा का घर सिखर पर जहाँ सिलहली गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका खलक ने लादे बैल॥ इत्यादि

कितनी सीधी स्वाभाविक बोलचाल की भाषा का प्रयोग कबीर ने किया है । कबीर ने ही नहीं, अन्य निगु‍र्ण-पन्थी कवियों ने भी इसी प्रकार की भाषा प्रयुक्त की है, क्योंकि उन्हें अपढ़ लोगों को, साधारण जनता को अपनी बातें बतानी थीं । इस स्वाभाविकता के साथ भी कबीर इत्यादि की भाषा कितनी ज़ोरदार है। शब्द उनके आदेशानुसार चलते जान पड़ते हैं। भाषा, व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध चाहे न हो पर स्वाभाविक अवश्य है ।

जायसी की भाषा तो बिल्कुल ही बोल चाल की भाषा है। बिना किसी सजीव-सुधार के जायसी ने अपनी भाषा को अपने गहरे भावों का सबल माध्यम बना लिया है । रहस्य-वादी संकेत, प्रकृति-वर्णन, दार्शनिक विचार सभी बोल चाल की अवधी में सीधे असर करते हैं। शब्द, साधारण बोल चाल से लिये गये हैं। तुलसीदास ने अवधी को साहित्यक रूप दिया है पर जायसी की अवधी ठेठ बोली है । इसका ठेठपन ही इसका बल है। अपने स्वाभाविक और खड़े रूप में इसका जोर देखिये:—

आवा पवन बिछोह कर पात झरा बेकरार ।
तरिवर तजा जो चूरिकै लागै केहिके डार ॥
अस अमराउ सघन घन बरनि न पारौं अन्त ।
फूलै फरै छहौं ऋतु, जानौं सदा बसन्त ॥

फरे आँब अति सघन सोहाये, औ जस फरे अधिक सिर नाये।
खिरनी पाकि खाँड़ असि मीठी, जामुन पाकि भँवर असि डीठी।

बसहिं पंखि बोलहि बहु भाखा, करहिं हुलास देखि करि साखा।
भोर होत बोलै चुह चूही, बोलै पांडुक 'एकै तूही'॥
जावत पंखी जगत के भरि बैठे अमराउ।
आपनि आपनि भाखा लेइँ दई कर नाउँ॥
हिय न समाइ दीठि नहिं जानहुँ ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लगि कहौं उँचाई कहँ लगि बरनौं फेरु॥

बिछोह, पातझरा, बेकरार, चूरिकै, अमराउ, बरनि न पारों अन्त, सदा बसन्त, आँब, जस फरे अधिक सिर नाये, पाकि, खाँड़ असि मीठी, भाखा, हुलास, भरि बैठे, दई कर नाऊँ, फेरु आदि बोलचाल के ज़ोरदार शब्द और सजीव एवं चलते मुहावरे हैं। इनकी गति सुगम तथा प्रभाव कितना गहरा है, यह इन उदाहरणों-द्वारा स्पष्ट है। भाषा स्वाभाविक है और भावों को पूर्ण रूप से व्यक्त ही नहीं करती, भावों को उकसाती भी है। शब्द और मुहावरा दोनों का प्रयोग स्वाभाविक है। प्राचीन और मध्य कालीन साहित्य पर दृष्टिपात करके हम देख चुके हैं कि भाषा की स्वाभाविकता उसकी विशेषता है यह स्वाभाविकता शब्दों और मुहावरों तक में ही सीमित न रहकर स्वाभाविक छन्दों के चुनाव में भी देखी जा सकती है; हिन्दी के जितने भी पहले के छन्द हैं वे भावों से, मेल खाते हुए चलते हैं।

केशव आदि कुछ कवियों को छोड़कर जिन्होंने अपना छन्द-सम्बन्धी ज्ञान प्रदर्शन करने के लिए अनेक उल्टे सीधे छन्दों का, भाव से योग न होने पर भी, प्रयोग किया है और इसी प्रकार पिंगल पर लिखने वाले आचार्यों का भी दूसरा उद्देश्य है, अन्य कवियों के प्रयास में जिन्होंने काव्य स्वच्छन्द रूप से लिखा है छन्दों की भी अनुकूलता एक विशेष बात है। इस प्रकार प्रकाशन की स्वाभाविकता पूर्व कालीन हिन्दी काव्य की एक प्रधान विशेषता है।

भाव-प्रकाशन की, ऐसी स्वभाविकता हमें भारतेन्दुकाल को रचनाओं में भी बराबर प्राप्त होती है, किन्तु इसके पश्चात प्रकाशन को स्वाभाविकता पर ज़ोर न देकर उसे विशेष कृत्रिम एवं प्रतीकात्मक बनाकर जन-सामान्य के लिए दुरूह कर दिया गया, जिसके फल-स्वरूप हिन्दी-काव्य की सर्वजन-प्रियता पर काफी धक्का लगा। जो काव्य, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध-युवक, हिन्दू-मुसलमान सबकी सम्पत्ति बन चुका था, वह सीमित और संकीर्ण हो चला। अतः आज फिर हमारे कवियों के सामने यह उद्देश्य ही होना चाहिए कि काव्य-भाषा को स्वाभाविक, सजीव, और सबल बनाकर, भाव के अनुकूल ढालें, जिससे हिन्दी-काव्य को पढ़ने के लिए, धर्म, जाति, मत आदि के बन्धन भुलाकर, जन-जन ललक उठे।

कबीर के निर्गुण राम

६

कबीर के निर्गुण राम

एक युग था, जब भारतवर्ष में उपासना और भक्ति जीवन का अंग समझी जाती थी। राजा से रंक तक विशिष्ट से साधारण तक इससे प्रभावित थे और उपासना का एक न एक पक्ष सभी को अपने जीवन में अपनाना ही होता था। उपासना में निर्गुण-सगुण विषयक मत-वैषम्य पुराना है, पर एक समय ऐसा आया जब कि सगुण रूप कुछ अधिक संकीर्णता से घिर गया और निर्गुण को अपने अन्तर्गत धारण न कर सका। सगुण का अवतारी और मूर्तिपूजा का रूप धीरे-धीरे इतना रूढ़ हो गया कि पुजारी जड़ प्रतिमा की आराधना और पूजा करते-करते स्वयं जड़ हो गया। प्रतिमा में स्थित भगवान् का दर्शन, दर्शन-लोभी, स्वच्छ-हृदय, परिष्कृत जीवनवालों को भी अस्पृश्य वर्ग में होने के कारण अलभ्य हो गया; वे मनुष्य के कृत्रिम जन्मतः वर्णविभाग के अन्तर्गत आ जाने के कारण आराधना, दर्शन-पूजा और प्रसाद सभी से वञ्चित कर दिये गये। किन्तु उन्हें वञ्चित करनेवालों को अजामिल, व्याध, गणिका के उद्धार की बातें यथार्थतः समझ में न आईं और न यही समझ में आया

कि क्या भगवान् उस मूर्ति या मन्दिर में क़ैद रह सकता है जिसका कि पुजारी रखवार है ? अतः इस प्रवृत्ति के कारण निर्गुण और सगुण-विषयक मतभेद और भी अधिक गहरा हुआ।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निर्गुण और सगुण शब्दों के यथार्थ और प्रयुक्त अर्थ क्या थे और हमारे हिंदीकाव्य में उनका किन अर्थों में साधारणतया प्रयोग हुआ है। निर्गुण का अर्थ है जिससे गुण निकल गये हों। अतः ईश्वर के इस विशेषण का अर्थ हुआ गुणों से रहित; गुणों से परे। पर इसका अर्थ यह नहीं कि निर्गुण वह वस्तु है, जिसमें कोई गुण ही नहीं, जो बेकाम हो। ईश्वर गुणों से रहित नहीं, गुणों से परे है। उसमें गुण हैं, असंख्य गुण हैं, अलौकिक गुण हैं। जब अलौकिक गुण हैं तब उसे हम निर्गुण नहीं कह सकते, वह सगुण अवश्य है इससे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर निर्गुण नहीं सगुण भी है। फिर सगुण का अर्थ है गुणों से सम्पन्न। गुणों से सम्पन्न वस्तु हमारी इन्द्रियों से परे नहीं हो सकती, पर परमात्मा इन्द्रिय-ग्राह्य नहीं है, अतः वह निर्गुण भी है। इसलिये वह निर्गुण होते हुए भी सगुण है। इनमें से एक को भी भुला देने से हम भ्रम में पड़ जायँगे। यह मेरा अपना निष्कर्ष नहीं; सगुण और निर्गुण धाराओं के सबसे बड़े दो माँझियों—तुलसी और कबीर—की अपनी-अपनी यही राय है। तुलसी कहते हैं—

हिय निर्गुण, नयनन्हि सगुण, रसना नाम सुनाम ;
मनौ पुरट सम्पुट लसे तुलसी ललित ललाम ।

हृदय निर्गुण पर विश्वास करता है, नेत्रों को सगुण रूप अच्छा लगता है, जिह्वा राम नाम के रत्न को ग्रहण करती है । तुलसी कहते हैं कि वही सोने के सम्पुट में रखे रत्न का यथार्थ आदर है । और कबीर भी यही कहते हैं—

"सरगुण की सेवा करो, निरगुण का करु ज्ञान ।
निरगुण सरगुण के परे, तहाँ हमारा ध्यान ।"

सेवा करने के लिए सगुण अच्छा है और ज्ञान के लिए निर्गुण । पर यथार्थ में हमारा ध्यान निर्गुण-सगुण के भ्रम से परे होकर परमात्मा में होना चाहिये । वह परमातमा न अकेले निर्गुण विशेषण से बँधा है, और न अकेले सगुण विशेषण से ही ।

सगुण का यथार्थ अर्थ प्रकृति के तीन गुण—सत-रज-तम से संयुक्त और निर्गुण का यथार्थ अर्थ इन तीन गुणों से परे है । किन्तु निर्गुण और सगुण का परम्परागत और जन साधारण में प्रचलित तात्पर्य निराकार और साकार का ही समानार्थी बन गया, और धीरे-धीरे यह मत-वैषम्य अवतारी और निराकार के रूप में ही सीमित रह गया । ईश्वर को एक सम्प्रदाय निर्गुण निराकार और अजन्मा आदि मानता था । दोनों का विरोध भी काफ़ी विकराल रहा और यहाँ तक कि तत्त्वतः

जो धारणायें एक दूसरे की पूरक थीं, एक दूसरे की विरोधी समझी गईं।

वैष्णव भक्तों में निर्गुण-सगुण के सामञ्जस्य का सबसे अधिक श्रेय साम्प्रदायिक दृष्टि से रामानन्द को प्राप्त हुआ था। उनकी दृष्टि में दोनों का महत्त्व है, और ईश्वरसम्बन्धी धारणा के दोनों रूपों का विकास हमें रामानन्द की शिष्य-मण्डली के दो सन्तों—तुलसीदास और कबीर की रचनाओं और उपदेशों में देखने को मिलता है। अतः यहाँ यह भी समझने की बात है कि दोनों के विचार और प्रचार का उद्देश्य दोनों रूपों का सामञ्जस्य करना था, विरोध करना नहीं। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने ईश्वर का निर्गुण रूप ही ग्रहण किया है और और परम्परागत रूप और धारणा का तिरस्कार किया, जब कि तुलसी ने परम्परागत रूप लेते हुये भी निर्गुण और सगुण का सामञ्जस्य स्थापित किया।

"राम" का परम्परागत रूप राजा, महापुरुष और ईश्वर के अनेक अवतारों में से एक अवतार है। तुलसी ने इन सबको मानते हुए भी निर्गुण परब्रह्म से (जिसका राम-नाम सबसे अधिक महत्त्व का है) इन सभी रूपों को एक में मिला दिया है। कबीर ने परम्परागत रूप का बहिष्कार करके कहा है—

"दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना।
राम-नाम कर मरम है आना।"

कबीर केवल राम-नाम के 'आन' (अन्य दूसरे मर्म पर ही अपनी उपासना केन्द्रित करते हैं। दशरथ-सुत से उनके राम का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके विचार से दशरथ-सुत का नाम 'राम' इसी प्रकार से है जैसे कि कोई राजा अपने लड़के का नाम परमेश्वर रख दे।

पर तुलसी की धारणा राम के विषय में कुछ दूसरे प्रकार की है। नामकरण के अवसर पर तुलसी ने लिखा है :—

जो आनन्द सिन्धु सुखरासी। सीकर तैं त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक विश्रामा॥
विश्वभरण पोषण कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

अतः यह राम-नाम सार्थक है। उनके गुणों के अनुसार है, केवल अनुकरण-मात्र नहीं है। शंकर-पार्वती संवाद में गोस्वामी तुलसीदास ने स्पष्ट कह दिया है कि यही राम जो कि दशरथ-कौशल्या के पुत्र और अयोध्या के राजा हैं, परब्रह्म, निर्विकार, अजन्मा ईश्वर हैं। उनका विचार है कि अत्याचार और अधर्म के बहुत अधिक बढ़ जाने पर और भक्तों के पीड़ित होने पर, भक्तों के विश्वास के अनुसार वह ईश्वर साकार-रूप धारण करता है। राम वही साकार रूप हैं। इन्हीं का निराकार रूप परब्रह्म है। राम के परब्रह्म स्वरूप के विषय में तुलसी की अनेक उक्तियाँ कबीर के समान ही हैं। जैसे—

नहीं। किसी अत्याचारी को नाश करने के लिये उसे अवतार लेने की क्या आवश्यकता है, वह तो इच्छा-मात्र से जिसका संहार करना चाहे, कर सकता है। यदि यह कहा जाय कि वह लीला करने के लिए ऐसा करता है, तो भी ठीक नहीं है। उसकी लीला तो यों ही सम्पूर्ण विश्व में चला करती है। उसे अवतरित होकर लीला करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह जो कुछ भी है वह उसकी माया है, ईश्वर नहीं है। कबीर कहते हैं:—

सन्तो आवै जाय सो माया।
हैं प्रतिपाल काल नहिं वाके ना कहुँ गया न आया।
वे कर्ता न वराह कहावैं धरणि धरैं नहिं भारा।
ई सब काम साहेब के नाही झूठ गहे संसारा॥
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पखान नहिं बंधा।
वे रघुनाथ एक कै सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा॥
दस अवतार ईश्वर की माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहैं कबीर सुनौ हो संतो उपजे खपै सो दूजा॥"

उत्पन्न होनेवाला और मरनेवाला व्यक्ति परब्रह्म नहीं हो सकता। वह राम नहीं है, यह कबीर की मान्यता है यों देखा जाय तो कबीर जिस तर्क को लेकर चलते हैं, वह वही संदेह है, जो सती के हृदय में राम को सीता-वियोग में विलाप करते हुए देखकर हुआ था और जिसकी शंका पार्वती को भी थी, जिसका मोह गरुड़ को राम के नागपाश में पड़ने पर हुआ था।

तुलसी ने अपने 'रामचरितमानस' में इस शंका का निवारण तर्क-द्वारा नहीं किया। वरन् उन्होंने धार्मिक भय या परम्परा का विश्वास जाग्रत् करके किया है कि जिससे शंका का समाधान केवल यह कह के होता है कि यह विलाप भी उनके लिये एक लीला है, और इस लीला के समर्थन में वे स्थान-स्थान पर राम की अलौकिकता और ब्रह्मत्व की ओर संकेत करके चलते हैं और विराट् रूप एवं अद्भुत शक्ति का वर्णन भर करते हैं। किन्तु तुलसी का साधन है विश्वास ही। जिसको उन्होंने बड़ी हो युक्ति द्वारा जमाया है। शंकर जी पार्वती से कहते हैं—

उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद सन्त सम्मत मोहिं भाई।
एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोहवश कहेउ भवानी।
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गावे धरहिं मुनि ध्याना।
कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिशाच।
पाखण्डी हरि-पद-विमुख, जानहि झूठ न साँच।
जिनके सूझ न लाभ न हानी। कहहिं वे वेद असंगत बानी।
जिनके अगुन न सगुन विवेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।

तुलसी को दृष्टि से यह शंका सज्जनों के हृदय में नहीं उठनी चाहिये। किन्तु यह शंका का उत्तर नहीं हुआ। प्रश्न का उत्तार यह नहीं होता कि यह प्रश्न ही न करो। तुलसी का यह उत्तर पौराणिक, धार्मिक एवं भक्तों को संतुष्ट कर सकता

है, पर सबको संतुष्ट करने का गुण इसमें नहीं है। इसको सत्य मानने के लिये सभी तैयार नहीं हैं, क्योंकि बिना आत्मानुभव हुए किसी बात को मान लेने में कभी-कभी हानि भी होती है। अतः जिस शंका का तुलसी ने इस प्रकार समाधान किया है, कबीर ने उसी को उठाकर अपने ईश्वर को, अपने राम को निर्गुण बताया है और उन्हें अवतार लेनेवाले राम से भिन्न कहा है।

यह निर्गुण या निराकार ईश्वर जिसे कबीर 'राम' कहते हैं, ज्ञानगम्य ही हो सकता है, भावगम्य नहीं। पर कबीर ने अपने निर्गुण 'राम' को भी भाव-गम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इसी निर्गुण 'राम' की उपासना या भक्ति से सम्बन्ध रखनेवाले कबीर के उद्गार ही रहस्यवादी उद्गार हैं। कबीर का निर्गुण ब्रह्म का निरूपण यथार्थ में गुण और साकार रूप में या अवतारवाद के विरोध में ही आया है। कबीर इसको बराबर कहते हैं कि उसका वर्णन नहीं हो सकता।

वह रामतत्त्व इंद्रिय गोचर नहीं है, उसका कोई रूप नहीं। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, वे कहते हैं—

जाके मुँह माथा नहीं, नाहीं रूप-कुरूप।
पुहुप-बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप॥
देही माँह विदेह हैं साहब सुरति सुरूप।
अनत लोक में रमि रहा, जाके रंग न रूप॥

उसका वर्णन करना कठिन है। जो कुछ भी उसके लिए कहा जायगा, वह पूर्ण रूप से सत्य नहीं है। इसी के कारण उसके विषय में कथन और विश्वास बड़ी सावधानी से करना चाहिये। वह विरोधी गुणों वाला है। तुलसी ने उसे निर्गुण और सगुण दोनों ही माना है। कबीर कहते हैं कि वह दोनों से परे है, अर्थात् इनमें से किसी एक में बँधता नहीं है। कथन अनेक कहे गए हैं, पर परब्रह्म के लिए जितने कथन हैं, उन्हें कान खोलकर विवेक के साथ ही ग्रहण करना चाहिये। कोई भी रूढ़ धारणा भ्रमात्मक हो सकती है। अतः वे कहते हैं :—

संतो धोखा कासूं कहिये।
गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण
बाट छाँड़ि क्यूँ गहिए।
अजरा अमर कथै सब कोई,
अलख न कथणां जाई।
नाहिं सरूप बरण नाहिं जाके,
घट-घट रह्यो समाई।
पिंड ब्रह्मंड कथै सब कोई
वाके आदि अरु अन्त न होई।
पिंड ब्रह्मांड छोड़ि जो कथिये,
कहैं कबीर हरि सोई।

जिसका वर्णन करना ही कठिन है, उसका अनुभव करना तो और भी कठिन है। पर कबीर का विचार है कि साधक नित्यप्रति सत्य नियमों का पालन करते रहने पर उसका अनुभव कर सकता है। यथार्थ में वह अनुभवगम्य ही है—भावगम्य ही है, इंद्रियगम्य नहीं। और अनुभव प्राप्त करने के लिए उन्होंने "हठयोग" पर आश्रित किया, अर्थात् कुंडलिनी को जगाकर, अष्ट कमलों और छः चक्रों-द्वारा सहस्रार कमल पर पहुँचकर ज्योति के दर्शन करना और अनहद नाद का सुनना आवश्यक माना है। पर यह सब समझने की नहीं करने की बात है और इस क्रिया के साथ-साथ 'सहज' अनुभव का प्रयोग बराबर चलना चाहिए; अन्यथा साधक फिर रूढ़ि में पड़कर उसका अनुभव नहीं कर सकता; बीच ही में रह जायगा। 'सहज' अनुभव ही प्रत्येक साधक का अपना है।

यह एक प्रकार की समाधि है एक प्रकार की मनोवृत्ति है, एक प्रकार की लगन और तन्मयता है कि जिससे प्राप्त होने पर मनुष्य की दृष्टि ही बदल जाती है। इस सहज समाधि की वर्णना कबीर यों करते हैं :—

संतो सहज समाधि भली।

साईं ते मिलन भयो जा दिन ते सुरत न अंत चली।
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस-हँस देखूँ, सुन्दर रूप निहारूँ।

कहूँ सो नाम सुनूं सो सुमिरन, खाउँ पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव न मानौं दूजा।
जहँ-जहँ डोलौं सो पैकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा।
आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, काया कष्ट न धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि-हँसि, सुन्दर रूप निहारौं।
कह कबीर यह उन्मुनि रहनी, सो परगट कर भाई।
दुख सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई।

इस प्रकार की समाधि-अवस्था की प्राप्ति होती है तभी 'राम' का अनुभव होता है। इस प्रकार के अनुभव का वर्णन नहीं हो सकता यह दशा कबीर ने इस भाँति वर्णित की है जैसी कि गूँगे की गुड़ या शकर खाने की अवस्था होती है। उसे जो आनन्द होता है, उसका वह अनुभव करता है, पर कहने में सर्वथा असमर्थ है।

निर्गुण और निराकार मानते हुए भी कबीर ने राम की शक्ति, उनके तेज और देश का वर्णन किया है। यह वर्णन कल्पनात्मक और अलौकिक है, और बहुत कुछ कबीर की रचना में काव्यत्व का कारण है। उसकी माया की शक्ति अपार है, जिसके वश में होकर बड़े-बड़े ज्ञानी और ऋषि-मुनि तक नाचते हैं। राम का रूप अलौकिक है। कबीर कहते हैं कि जिस आत्मा को उसके रूप की झलक मिल गई, वह उसी रूप पर

मुग्ध हो गई, पर जब तक शरीर का बन्धन है उससे एकाकार नहीं हो सकता। अथवा वह अलग है, प्रत्येक समय सामने नहीं है। अतः उसका अलौकिक जीवन एक विरहणी का सा जीवन है। जो सदा प्रिय से मिलने के लिये छटपटाती रहती है। उस अलौकिक रूप का वर्णन और उससे मिलने को उत्कंठा नीचे लिखे पद में व्यक्त है :—

ऋतु फागुन नियरानी हो, कोई पिया से मिलावे।
पिया को रूप कहाँ लग बरनूं, रूपहिं माँह समानी।
जो रँग रँगे सकल छबि छाके, तन-मन सबै भुलानी।
यो मति जानों यह रे फाग है, यह कुछ अकह कहानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह गत बिरले जानी।

यह आध्यात्मिक विरह की दशा ही शुद्ध आत्मा का लक्षण है।

गुरू इसी आध्यात्मिक विरह को जगाता है। विरह के जाग्रत हो जाने पर फिर साधक को बड़ी विषम अवस्था का सामना करना पड़ता है। यह तपस्या है। भक्तों का विरह-वर्णन बड़ा ही भाव-पूर्ण है। कबीर कहते हैं :—

"अँखियाँ तो झाईं पड़ी पंथ निहारि-निहारि।
जीहड़ियाँ छाला पड्या नाम पुकारि पुकारि॥
सब रग ताँत रबाब तन विरह बजावे नित्त।
और न कोई सुनि सके, कै साईं कै चित्त॥"

दर्शन की ललक में फिर जीवन भार जान पड़ता है :—

"दिवस न भूख, रैन नहिं निद्रा, घर-अँगना न सुहाय।
सेजरिया बैरिन भई, हमको जागत रैन बिहाय।
कै अब प्रान तजन दे प्यारे, कै अपनी कर लेव।
दास कबीर विरह अति बाढ़ेउ, हमको दर्शन देव।

उस परमात्मा के देश का वर्णन कबीर ने दो रूपों में किया है। एक तो शरीर के भीतर और दूसरे अलौकिक दृश्यों से युक्त। कबीर इस शरीर को ही परमात्मा का महल मानते हैं। आत्मा उस महल में जाकर मिलती है। इसी शरीर में ब्रह्मरन्ध्र को पिय की अटरिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं—

"पिय ऊँची री अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया, लगो नाम की डोरिया।
चाँद सुरज सम दियना बरत हैं, ता बिच भूली अटरिया॥"

फिर कबीर कहते हैं कि वह देश अगम्य है, वहाँ पवन, पानी का प्रवेश नहीं है। उस देश में जो कोई जाता है उसका फिर बहुरना नहीं होता है। कबीर का वही देश है। यह पिय के निवास का स्थान है। मनुष्य इसी देश को अपना देश समझता है। आत्मा पवित्र होकर उसी ईश्वर के देश को जाती है। कबीर आत्मा को सम्बोधित करके कहते हैं :—

चल हंसा वा देश को, जहँ पिया बसैं चितचोर।
सुरत सुहागिन है पनिहारिन, भरे ठाढ़ बिन डोर॥
वहि देसवा बादर ना उमड़ैं, रिम झिम बरसे नेह।
चौबारे में बैठ रहो ना, जा भींजहुँ निर्देह।
वहि देशवा मा नित्त पूर्निमा, कबहुँ न होय अँधेर।
एक सुरज कै कौन चलावै, कोटिन सुरज उँजेर।

कबीर उस परब्रह्म की भावपूर्ण आराधना करते हैं। परमात्मा को आत्मा अपने पति के रूप में देखती है और कबीर इस जीवन का त्याग विवाह के रूप में मानते हैं। अविनाशी दूलह के साथ ही कबीर अपनी आत्मा का विवाह करते हैं। यथार्थ में आत्मा-परमात्मा का मिलन-आनन्द इसी प्रकार के आनन्द से तुलनीय है। विवाह या गौने की सी ललक या आनन्द आत्मा के परमात्मा से मिलन का आनन्द है। यह मनुष्य-देह ही मुक्ति का अवसर है। अन्य देहों में ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती है, इसीलिये कबीर इसी में 'राम' से मिलन का उपदेश देते हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कबीर के 'निर्गुण राम' परम तत्व के रूप में ही हैं। हम उन्हें किसी मूर्ति में सीमित नहीं कर सकते। वे घट-घट में, जड़-चेतन में, लोक-लोक में व्याप्त हैं। उनसे किसी भी आत्मा का यथार्थ मिलन तभी हो सकता है, जब वह मनुष्य-जीवन में परम शुद्धि प्राप्त कर ले

और तभी वह देहावसान के उपरान्त 'राम' में समा सकती है। कबीर ने आत्मा के इस लोक का जीवन विरहणी स्त्री के जीवन के रूप में देखा है। शुद्ध आत्मा के इहलोक-लीला-संवरण का अवसर ईश्वर से मिलन का अवसर है। स्त्री रूप आत्मा के लिये विवाह या द्विरागमन का अवसर है। आत्मा और परमात्मा के मिलन का आनन्द बहुत ही मधुर है, जिसका कुछ आभास स्त्री-पुरुष के मिलन के आनन्द में मिल सकता है, इसीलिये कबीर ने इस मधुर भाव के रूप में उसका प्रकाशन किया है—भाव रूप में 'निर्गुण या निराकार' राम का इतना ही वर्णन संभव और अवगम्य हो सकता है। कबीर का जो भी वर्णन है, वह सब उस अकथनीय आनन्द का रूपकों और लौकिक भावों में व्यक्त करने का प्रयासमात्र है यथार्थ वर्णन नहीं। यथार्थ वर्णन तो उसका हो ही नहीं सकता।

——————

तुलसी के आध्यात्मिक विचार

७

तुलसी के आध्यात्मिक विचार

तुलसी महापुरुष थे । उनकी आत्मा महान् थी उनके विचार उदार और सुलझे हुए थे। उनका हृदय विशाल और दृष्टि व्यापक थी। तुलसी को केवल कवि कहना उनके व्यक्तित्व का अपमान करना है। वे शुद्ध-हृदय साधु, ऋषि, तत्व-द्रष्टा, समाज-सुधारक और मानव-समाज से हो नहीं वरन् सम्पूर्ण जीवधारियों से स्नेह करने वाले व्यक्ति थे । उन्होंने तत्कालीन भारतीय समाज को अनेक समस्याओं को शाश्वत् रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया था। निर्गुण-सगुण, शैव-वैष्णव, अवतारवाद, तथा लोक-जीवन की समस्याओं और विवादों को उन्होंने बहुत कुछ दूर कर दिया था । समाज के प्रत्येक वर्ग को सन्तुष्ट करने वाला तुलसी का 'मानस' हिन्दू धर्म और समाज का अमृत-सागर है। जन-साधारण के लिए तुलसी ने 'रामचरित मानस' के अनेक प्रसंगों में विशेष परिस्थितियों में आदर्श आचरण एवं व्यवहार-द्वारा लोकरीति का पालन और राम राज्य का मार्ग बताया है। रामराज्य का वर्णन कितना लुभावना है! प्रजा कैसी सम्पन्न और सुखी है राजा का कितना स्नेह और प्रभाव है ! यदि राम की भाँति राजा,

भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न की भाँति भाई, सुग्रीव के समान मित्र, कौशल्या के समान माता, अवध वासियों के समान प्रजा, हनुमान के समान राज्य कर्मचारी, वशिष्ट के समान पुरोहित और सुमंत के समान मंत्री प्राप्त हो जाँय तो 'राम राज्य' देखने को अब भी मिल सकता है।

सीता का चरित्र स्त्री-समाज का कितना कल्याण कर सकता। अतः इन अनेक चरित्रों के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने हमारे सामाजिक और गार्हस्थ्य जीवन की समास्याओं को सुलझाया है। जिसका प्रभाव अभी तक हमारे हृदयों पर अमिट है। इसी सुन्दरता के साथ उन्होंने हमारी मानसिक उलझन और धार्मिक समस्याओं को भी स्पष्ट कर दिया है।

तुलसी के समय शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में बड़ा विरोध था। इस विरोध को 'रामचरित मानस' बहुत अंशों में दूर करने में समर्थ हुआ है। शंकर जी राम के सर्वश्रेष्ठ और सबसे महान् भक्त के रूप में हैं। राम की भक्ति में आत्म विभोर रहना, छियासी हज़ार वर्ष को समाधि लगाना उनका ही कार्य है, सदा श्रीराम गुण-गान ही शंकर की दिनचर्या है, इतना ही नहीं राम की कथा का आदि स्रोत भी शंकर ही हैं। 'रामचरित-मानस' को सर्व प्रथम शंकर ने ही बनाया था:—

"रचि महेश निज मानस राखा, पाइ सुसमय सिवा सन भाखा"

और इन्हीं से यह लोमश ऋषि, काकभुसुण्डि, याज्ञवल्क्य आदि के पास गया। और स्वयं तुलसो को भो 'मानस' लिखने को प्रेरणा शंकर ने हो दोः—

शंभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी, रामचरितमानस कवि तुलसी।

शंकर राम के भक्त हैं। वैष्णव हैं, राम के रूप को शंकर अच्छी तरह जानते थे। तुलसी ने लिखा है:—

ब्रह्म राम ते नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ, लिय महेस पहिचानि॥

और इसी प्रकार राम, शंकर के उपासक थे। जहाँ कहीं आवश्यकता पड़ो राम ने शंकर की ही पूजा की है यथाः—

पूजि पारथिव नाये माथा।

यही नहीं, शंकर तो "सेवक स्वामिसखा" के सम्बन्धों से बँधे हैं। सोता भो गिरजा की पूजा करने वाली हैं अतः शैव और वैष्णवों मे विरोध या द्वेष की भावना व्यर्थ की है। काकभुसुण्डि के प्रसंग में तो इस विषय पर बिल्कुल ही सीधा प्रकाश पड़ता है। अतएव तुलसी ने बड़ी ही भक्ति-पूर्वक धर्म की उदार भावना का प्रतिपादन किया है और नम्रता का आदर्श रक्खा जो इतना ऊँचा और विशाल है कि तुलसी कह उठते हैं:—

सीय राम मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।

अब दूसरी समस्या उस समय अद्वैत और विशिष्टावाद की, सगुण-निर्गुण या अवतारवाद और उसके खण्डन की थी। तुलसी का यथार्थ महत्व इस समस्या को पूर्ण रूप से सुलझा दने में है और इसी बहाने हमें तुलसी के आध्यात्मिक विचारों का परिचय भी प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवाद के अन्तर्गत यह भावना काम करती है यह संसार झूठा है। और जो कुछ सत्य है वह ब्रह्म है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। अतः मैं भी ब्रह्म ही हूँ। इसको स्पष्ट करने वाली 'अहम् ब्रह्मास्मि' 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' आदि धारणायें अद्वैतवाद की हैं।

अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी द्वैत-भावना रूप में दृष्टिगत है वह सब भ्रम है। वह भ्रम भी माया के कारण है। माया अनिर्वचनीय है। वह सद्-सद् विलक्षण है उसे न हम सत्य ही कह सकते हैं और न झूठ ही। यहाँ पर माया की बात समझ में नहीं आती है। ब्रह्म की ही माया ब्रह्म पर ही क्यों प्रभाव डालती है और ब्रह्म ही क्यों ऐसा भ्रम में पड़ता है कि वह अपने ही को न पहचान सके? यदि ऐसा है तो फिर हमें ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म और जीव तथा माया में कुछ भेद करके चलना अधिक व्यवहार-संगत जान पड़ता है। अतः व्यावहारिक दृष्टि से रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों में भेद कर दिया है। वे जीव को ईश्वर का अंश मानते हैं, पर प्रकार-प्रकारी भाव से। ईश्वर

प्रकारी है और जीव तथा प्रकृति ईश्वर के प्रकार हैं जैसे जल के प्रकार हैं कुहरा, भाप तथा बर्फ। ईश्वर विशिष्ट है और जीव तथा प्रकृति उसके विशेषण हैं।

तुलसी की विचार-पद्धति में हमें शंकर और रामानुज दोनों के मतों का समन्वय मिलता है, परन्तु व्यवहार की दृष्टि से वे रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद को अधिक मानते हैं। ईश्वर और जीव की एकता के भाव और माया आदि के प्रभाव का वर्णन तो वे शंकर के अद्वैतवाद के समान ही करते हैं, जैसे राम के रूप और माया का वर्णन करते हुये 'मानस' के प्रारम्भ में वे कहते हैं:—

> यन्माया वशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा ।
> यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेभ्रमः ॥
> यत्पादप्लवमेक मेवहि भवाम्बोधेस्तितीर्षावताम् ।
> बन्देऽहम् तमशेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

परन्तु ध्यान से देखने पर यहाँ भी तुलसी, पूर्ण अद्वैती नहीं हैं, क्योंकि वे प्रथम तो कहते हैं जिसकी मायावश तो ईश्वर और माया दो का अस्तित्व हो ही गया, तीसरा वह रहा जिस पर कि माया का प्रभाव है और जो संसार सागर से पार जाना चाहता है।

तुलसी के विचार यथार्थ में यही है कि ब्रह्म निगुण, निरा-

कार अजन्मा, निर्विकार, सर्वान्तर्यामी, अनादि सत, चित, आनन्दमय है। पर जीव ब्रह्म का अंश है:—

ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन अमल सहज सुख रासी।
सो माया वस पर्यो गुसाईं, बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥

किन्तु ईश्वर और जीव में भेद है अवश्य। जीव, माया के वश में है। माया का प्रभाव उस पर बहुत अधिक है भो, किंतु ईश्वर माया से परे है माया-पति है और इस प्रकार तुलसी के विचार से "परवश जीव स्ववस भगवन्ता" हैं। प्रकृति के सत, रज और तम तीन गुण जीव को अपने में बाँधे रहते हैं।

तुलसी ने दोनों के इसी भेद को बड़े ही स्पस्ट शब्दों में अभिव्यंजित किया है। ईश्वर अखण्ड ज्ञान है पर जीव का ज्ञान अखण्ड नहीं है माया के वश में वह नष्ट हो जाता है, भक्तों को भी माया क्यों व्यापती है इसके उत्तर में गरुड़ से काकभुशुण्डिजो कहते हैं:—

नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरि जाना॥
ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। माया वश्य जीव सचराचर॥
जो सबके रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुण खानी॥
पर बस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
मुधा भेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाय न कोटि उपाया॥

ईश्वर तथा जीव के भेद को प्रतिपादित करके तथा जीव अनेक मानकर तुलसी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दोनों एक होते हुए भी अलग-अलग हैं। इसी कारण भक्ति के प्रति महत्व, का भाव प्रदर्शित किया गया है। इसी भेद को स्पष्ट करते हुए लोमश और काकभुशुण्डि के प्रसंग में भी तुलसी कहते हैं कि क्रोधादि भाव द्वैतबुद्धि के कारण ही होते हैं, अतः माया का प्रभाव जिस जीव पर पड़ सकता है वह जीव ईश्वर के समान नहीं हो सकता है:—

क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईश समान॥
(उत्तर काण्ड)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दोनों तत्त्वतः एक मानते हुए भी ब्रह्म और जीव में भेद करके तुलसी चलते हैं, क्योंकि कोटि तथा स्वभाव के विचार से जीव चाहे ब्रह्म की कोटि का हो पर शक्ति और प्रभाव के विचार से दोनों में भिन्नता अवश्य है।

अब ईश्वर और जीव के बीच सम्बन्ध स्थापित होजाने पर यह समझना भी आवश्यक है कि वह ईश्वर सगुण है अथवा निर्गुण। तुलसी फिर समन्वयबुद्धि को ही लेकर चलते हैं। कबीर जिस ब्रह्म को सगुण और निर्गुण के परे मानते हुए कहते हैं:—

सरगुण की सेवा करो, निरगुण का करु ज्ञान।
निरगुण सरगुण से परे, तहाँ हमारा ध्यान॥

उसी को तुलसी दोनों के रूप में देखते हैं, उनका कथन है कि:—

हिय निरगुण नयनन्हि सगुण, रसना राम सुनाम।
मनौ पुरट सम्पुट धरे, तुलसी ललित ललाम॥
(दोहावली)

अतः स्पष्ट है कि तुलसी ज्ञान के लिए निर्गुण, और उपासना के लिए अथवा भक्ति के हेतु ब्रह्म का सगुण रूप ही ग्रहण करते हैं। जो सर्वशक्तिमान निर्गुणब्रह्म है, वहीं अधर्म को बचाने के लिए और भक्तों के प्रेमवश उन्हें दर्शन देने के लिए सगुण रूप धारण करता है। अतः ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। वह तीनों गुणों के परे होते हुए भी गुणोंवाला है। इस विषय में उठनेवाली शंका का निवारण भी तुलसी ने किया है। उनके विचार से निर्गुण और सगुण ब्रह्म में कोई भेद नहीं, विरोध नहीं। बालकाण्ड में शंकर कहते हैं:—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं बुध पुराण मुनि वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

इस प्रकार निर्गुण और सगुण एक ही ब्रह्म है। जैसे कि जल, वायु के भीतर भी वाष्प में अदृश्यरूप में रहता है वैसे ही निर्गुण ब्रह्म भी। जिस प्रकार वह अदृश्य वाष्प बादलों का रूप धारण करती है, फिर जल का और वही ठोस उपल का रूप ग्रहण करती है इसी प्रकार निर्गुण ईश्वर भी सगुण रूप धारण करता है। निर्गुण और सगुण—दो प्रकार के ब्रह्म का निरूपण एक और प्रकार से तुलसीदास ने किया है, वे कहते हैं—

"एक दारु गत देखियत एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू॥

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत निर्गुण या निराकार का सगुण अथवा साकार रूप है। यह तो केवल दृष्टि का ही भ्रम है कि हम उन्हें अलग-अलग ,अथवा एक दूसरे का विरोधी मानते हैं। वस्तुतः दोनों एक ही हैं। ब्रह्म जब निराकार रूप धारण करता है तो वह अवतार लेकर सगुण के रूप में प्रकट हुआ करता है। जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्राबल्य होता है तभी सत्य, धर्म और साधुओं की रक्षार्थ निर्गुण ब्रह्म, साकार रूप में अवतार लेता है।

बुद्धि के लिए निर्गुण के रूप में ईश्वर को समझना तुलसी को दृष्टि से सरल है, पर सगुण पर विश्वास करना या समझना बड़ा कठिन है :—

निरगुण रूप सुलभ अति सगुण जान कोइ कोइ।
सुगम अगम-नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

अतः यथार्थ में ब्रह्म का ज्ञान पूर्ण तभी है जब निर्गुण के साथ ही सगुण ब्रह्म भी समझ लिया जाय। सम्पूर्ण विश्व उसका सगुण रूप है। ब्रह्म विशेष रूप में भी अवतार लेता है। रामानुज-द्वारा प्रतिपादित, अवतार के पाँच प्रकारों पर तुलसी की आस्था जान पड़ती है।

सृष्टि के अन्त में अर्थात् महाप्रलय के समय ब्रह्म सम्पूर्ण सृष्टि को अपने में ही लीन कर—सबको समेट कर निर्गुण और निराकर रूप हो जाता है। वही आरम्भ में अपने अंश से सूर्य की किरणों के समान अनेक ग्रहों रूप जीवों का विकास करता है। माया के सम्पर्क से ज्ञान का आवरण पड़ते पड़ते जीवों की विवेकमयी बुद्धि मन्द होती रहती है और भेद-बुद्धि बराबर बढ़ती रहती है और इस प्रकार पारस्परिक कलह और ईश्वर से दूरी बढ़ती जाती है :—

राम दूरि माया बढ़ति, घटति जानि मनमाँह।
भूरि होति रवि दूर लिखि, सिर पर पग तर छाँह॥

जीव के लिए राम की कृपा की अत्यन्त आवश्यकता है। बिना कृपा के सुबुद्धि की प्रेरणा नहीं होतो है जो राम निर्गुण तथा सर्वशक्तिमान है वही सगुण भो है और वही राम अवतार भो लेते है 'मानस' के बालकांड में तुलसीदास ने कहा है :—

व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप॥

और भी

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥

अतएव तुलसी के मत से राम निर्गुण होते हुए भी—अवतार लेते हैं और सगुण विग्रह धारण करते हैं। यह धारणा 'अध्यात्म रामायण', 'भागवत' आदि ग्रन्थों के आधार पर है। इन ग्रन्थों के विचार से ही राम विष्णु के रूप है परन्तु तुलसी के लिए यह विचार मान्य नहीं है। उनके 'राम' तो सभी देवताओं, त्रिदेवों और विष्णु से भी परे हैं। ब्रह्मा, विष्णु महेश तो उनसे शक्ति प्राप्त करते हैं। अतः वह विष्णु आदि सबसे बढ़कर सच्चिदानन्द है। विनय पत्रिका, में गोस्वामी जी ने कहा है :—

"हरिहि हरिता, विधिहिं विधिता, शिवहिं शिवता जो दई,
सोइ जानकी पति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई"

अतः राम ही सर्वोच्च है। जानकी या सीता उन्हीं राम की महाशक्ति हैं। राम स्वयं सत्य हैं और इनकी सत्यता की व्याप्ति से हरि-माया भी सत्य लगती है :—

"जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।"

इस माया का वर्णन तुलसी ने दो रूपों में किया है। प्रथम विद्या माया है और द्वितीय अविद्या माया। दोनों ही प्रकार की माया द्वैत-बुद्धि की ओर ले जाने वाली होती है। विद्या माया से सृष्टि का विस्तार और विकास होता है और अविद्या-माया से दुःख, उन्माद तथा मोह आदि बढ़ते हैं। विद्या माया सृष्टि की रचना करती है पर वह भी ईश्वर से प्रेरित होने पर तथा उसी की शक्ति से। जो भक्त होते हैं उन पर अविद्या माया प्रभाव नहीं डालती। उन पर विद्या माया का ही प्रभाव, उनके अहंभाव या विकार का नाश करने के लिए होता है; क्योंकि माया के प्रभाव से तो ईश्वर को छोड़कर और कोई बचा ही नहीं है। अतः भक्तों को भी विद्या माया, अहंभाव या भ्रम के रूप में व्याप्त होती है। सती, नारद, भुसुण्डि, गरुड़, लोमश, आदि सभी पर विद्या माया ही व्याप्ति थी। और अविद्या माया का प्रभाव रावण आदि पर था। माया का प्रभाव ब्रह्मा विष्णु आदि पर भी है :—

सिव विरंचि कहुँ मोहइ, को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान॥

(उत्तरकाण्ड)

जीव इसी माया के वश पड़ा हुआ ईश्वर को भूला रहता है। वह ईश्वर की कृपा से ही माया के प्रभाव से मुक्ति पाता है। 'विनय पत्रिका' में तुलसीदास ने कहा है :—

"'माधव अस तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिय तरिय नहि जब लगि करहु न दाया ॥"
(विनय पत्रिका ११६)

इस प्रकार लीला के प्रसार या विकास में इस प्रकार के भेद हो जाते हैं। निगु'ण राम की लीलात्मक प्रकति की क्रिया 'मूल प्रकृति' को जन्म देती है। मूल प्रकृति से महत्तत्त्व, उससे अंहकार और शब्द, रूप, रस, गन्ध आदि गुणों के साथ आकाश, वायु, अग्नि, नीर, पृथ्वी, आदि उत्पन्न होते हैं। बुद्धि, मन, इन्द्रिय, प्राण, चित्त आदि के रूप में राम की चित् शक्ति व्यक्त होती है। इस प्रकार का विश्वास तुलसी की विनय पत्रिका में निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है :—

'प्रकृति महतत्व, शब्दादि गुन देवता व्योम मरुदग्नि अमलांबु उर्वी।
बुद्धि मन इन्द्रिय प्राण चित्तातमा काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी ॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपाल मनि व्यक्तमव्यक्त गतभेद विष्णो।
भुवन भवदंस कामारि वंदित पदद्वंद मंदाकिनी जनक जिष्णो ॥
(५४)

इससे स्पष्ट है कि तत्वतः कोई अंतर नहीं है सभी पदार्थ "त्वद्रूप" हैं यह ज्ञान की बात है, यह वह तथ्य है जो सभी को विदित नहीं होता है। अतः व्यवहार के लिए ब्रह्म के सान्निध्य की कामना आवश्यक है।

जब ईश्वर की कृपा ही सब कुछ करने वाली है, तब तो मानव के लिए कुछ करने को है हो नहीं। ईश्वर जब जो चाहेगा तभी वह कार्य होगा। पर ऐसी बात नहीं है; उसकी कृपा प्राप्त को जा सकती है। माया के बन्धन से जीव मुक्त हो सकता है। इसके हेतु विद्वानों ने अनेक उपाय बताए हैं उन्हीं उपायों के अन्तर्गत जप, तप, योग,, वैराग्य, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि हैं। इनमें से मुख्य ज्ञान और भक्ति है। बिना ज्ञान या भक्ति के कर्म भी नहीं, निश्चित किया जा सकता है। अतः ज्ञान तथा भक्ति ही मुक्ति के साधन हैं जिनके द्वारा सांसारिक बन्धन या माया दूर हो सकती है।

तुलसी कहते हैं कि ज्ञान बहुत उत्तम है। "सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा" अर्थात् मैं वही ईश्वर हूँ इस प्रकार का ज्ञान होना बड़ा उत्तम है। परन्तु ऐसा ज्ञान प्राप्त करना जो मुक्ति के द्वार खोल देता है—सरल कार्य नहीं है। मानव के भीतर चेतन के अन्तर्गत-जड़ता की गाँठ अनेक जन्मों में संसार के सम्पर्क के कारण पड़ गई है यह बहुत कठिनता से निकलती है। वह दीखती हो नहीं, छूटना तो दूर की बात है। इसी—गाँठ को खोलने के लिए तुलसी ने ज्ञान दीप का सहारा बताया है जो बड़ा ही कठिन साधन है। यदि ज्ञान-दीप को प्राप्त भी कर लिया जाय तब भी उसकी ज्योति को जगाते रखने के लिए बड़ी ही सतर्कता की आवश्यमता है अन्यथा अनेक बाधाएँ आकर उसे बुझा देती है। अतः यह बड़ा ही दुःसाध्य है :—

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन विवेक ।
होइ घुनाक्षर न्याय जौ पुनि प्रत्यूह अनेक ।।

अतः ऐसा कठिन मार्ग सर्वजन-सुलभ नहीं है ।

वास्तव में भक्ति ही राजमार्ग है जिस पर चलने पर सभी को सफलता प्राप्त हो सकती है । इस भक्ति के यद्यपि शांत, सख्य, दास्य, वात्सल्य और माधुर्य पाँच भाव कहे गये हैं, पर तुलसी यथार्थ में दास्य-भाव ही उपयुक्त मानते हैं अन्यथा ईश्वर और जीव के बीच का यथार्थ सम्बन्ध विकसित नहीं होता और विरह-विकलता तथा कष्ट अधिक होता है । अतः दास्य-भाव ही अधिक समीचीन है । गरुड़ से काक भुसुंडि कहते हैं ।

'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' ।

अतएव दास्य भक्ति ही सर्वोत्तम हैं । दास्यभक्ति के अंतर्गत पूर्ण आत्म समर्पण, अनन्य भाव तथा अनवरत लगन आवश्यक है ।

भक्ति के अनेक भावों का पूर्ण विवरण हमें तुलसी की 'विनय पत्रिका' में देखने को मिलता है । भक्ति, सर्वजन-सुलभ होते हुए भी सर्व श्रेष्ठ वस्तु है और मन का पूर्ण रूपेण भक्ति में लगाना ईश्वर की कृपा पर ही निर्भर है, इस विचार से बहुत कुछ बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग से समानता है । तुलसी कहते हैं:—

मेरो मन हरिजू हठ न तजै ।
हौं हार्यौ करि जतन विविध विधि नेकु न मूढ़ लजै ॥
तुलसिदास तब होइ स्वबस, जब प्रेरक प्रभु बरजै ॥

यह बात है, परन्तु तुलसी यह मानते हैं कि ईश्वर की कृपा भी मनुष्य प्राप्त कर सकता है यदि वह भक्ति की साधना प्रारम्भ कर दे। उसके लिए पवित्र जीवन, श्रुति का विधान वैराग्य, विवेक आदि आवश्यक है । तुलसी की भक्ति, विधि-रहित नहीं है। वह वेद-समस्त है उन्होंने कहा है :—

"श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुत विरति विवेक" ।

अतः विधि-पूर्वक भक्ति-पथ को ग्रहण करने पर ईश्वर की कृपा प्राप्त की जा सकती है पर भक्ति निस्वार्थ होनी चाहिये । भक्ति के साधक बैकुण्ठ की भी कामना नहीं करते, उन्हें मुक्ति भी नहीं चाहिये, पूर्ण भक्त कभी भी मुक्ति नहीं चाहता वह भक्ति ही चाहता है। काकभुसुण्डि ऐसे ही भक्तों में से थे और शंकर जी भी। भक्त को मुक्ति तो स्वतः प्राप्त हो जाती है:—

"राम भजत सोइ मुक्ति गोसांई। अन इच्छित आवै बरिआई ॥

अतः ऐसी भक्ति किसके द्वारा वांछनीय न होगी । इस प्रकार तुलसी दास जी ने, अनेक दार्शनिक विचारों को अपना कर भी विभिन्न 'वादों' में किसी को पूर्ण-रीति से न मानते हुए भी सबके बीच में एक सामञ्जस्य स्थापित किया है। कुछ विद्वान् इन्हें अद्वैतवादी और कुछ विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं

पर तुलसी दोनों को मानते हुए एक से भी पूर्णतया सहमत नहीं हैं। जहाँ तक ज्ञान की बात है, विवेक की बात है, तथ्य को समझने की बात है, तुलसीदास अद्वैतावद से प्रभावित हुए हैं पर वे इस बात को मानते हैं कि यह ज्ञान आदर्श रूप में है, व्यवहार में वे ईश्वर-जीव के मध्य भेद मानते हैं, क्योंकि जीव में ज्ञान सर्वकालीन नहीं रहता है। इस दृष्टि से वे जड़ और चेतन को मानते हुए जड़ को माया और चेतन को जीव समझते हैं और चेतन, विशेष रूप से मनुष्य के लिए भक्ति परमावश्यक मानते हैं। भक्ति के अन्तर्गत वे भक्त के प्रयत्न के साथ-साथ अनुग्रह या पुष्टि को भी आवश्यक समझते हैं। इसके बिना जीव कुछ नहीं कर सकता अतः यहाँ पर पुष्टि-मार्ग (वल्लभाचार्य) का प्रभाव सा जान पड़ता है। पर पूर्ण विवरण में तुलसी किसी वाद के झमेले में नहीं पड़ते; वे तो भक्ति को ही सबसे आवश्यक मानते हैं और अनेक वादों के अनुसार जगत को किसी निश्चित रूप में वर्णन करना भी वे भ्रम मानते हैं:—

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगुल प्रबल कोऊ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आतम पहिचानै॥

तुलसी ने सिद्धांतों की अनेक बातें, जिनमें परस्पर भेद और लड़ाई होती है, छोड़ दी हैं। ईश्वर के लिए भी उन्होंने बैकुण्ठ आदि की कल्पना इतनी ही की है कि देवताओं का लोक इन्द्र-

पुरी ब्रह्मपुरी, कैलाश और विष्णु का क्षीर-सागर है। तुलसी ने राम को एक विशेष लोक में प्रतिष्ठित न मान कर सर्वान्तर्यामी ही माना है। क्योंकि जिस समय सभी देवता ब्रह्मा, पृथ्वी आदि मिलकर अत्याचार के विरोध में प्रार्थना करने चले तो शंकर ने सर्वव्यापी भगवान की प्रार्थना के लिए आदेश देकर कहा कि वह प्रेम से प्रकट होते हैं :—

बैठे सुर सब करहिं विचारा। कहँ पाइय प्रभु करिअ पुकारा।
पुर बैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
तेहि अवसर गिरजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन अस कहेऊँ।
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होहि मैं जाना॥
देस काल दिसि विदिसहुँ माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।
अग जग मय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

इसे अंतर्यामी रूप में ही तुलसी ने वर्णित किया है। वह किसी लोक विशेष का बासी नहीं है। अतः हम अनेक बातों से कह सकते हैं कि तुलसी के दार्शनिक विचार साम्प्रदायिक नहीं; वे व्यापक और उदार हैं। वे काल्पनिक और संकीर्ण भी नहीं हैं। जो बातें अनेक सम्प्रदायों में सभी को मान्य हैं तुलसी ने उन्हीं को ग्रहण किया है और उनके धर्म की धारणा भी सर्वजन-सुलभ और लोक कल्याणकारी है।

———

खण्ड २

साहित्यिक अभिरुचि

१

साहित्यिक अभिरुचि

आजकल जब हम साहित्यिक अभिरुचि पर विचार करने बैठते हैं तो सहज ही एक प्रश्न सामने उठ खड़ा होता है कि साहित्य का आजकल के समाज में क्या मूल्य है? उसकी आवश्यकता हमारे जीवन में क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में हम अनेक लेखों की ओर, जो साहित्य की महत्ता पर लिखे गये हैं, संकेत कर सकते हैं, साथ ही इतिहास के ऐसे युगों को बता सकते हैं जिनका महत्व उस युग के साहित्य पर ही आधारित है। साहित्य-रचना की भी कमी हमारे युग में नहीं है, फिर भी साहित्य का कोई विशेष प्रभाव हमारे समाज के जनसमुदाय पर दिखाई नहीं पड़ता। साहित्य के लिए एक प्रकार की ललक जन-जन में नहीं जगती। बहुत दिनों तक उससे अछूते रहने पर भी उसके लिए मनुष्य आतुर नहीं होता। इसका क्या कारण है? कुछ लोग इसका कारण, आधुनिक-कालीन विशिष्ट राजनैतिक, सामाजिक और विशेष रूप से आर्थिक, परिस्थितियों के भीतर ढूँढ़ेंगे, और किसी सीमा तक ये परिस्थितियाँ कारण रूप हैं भी; परन्तु जब हम पिछले युगों में साधारणजनों की दीन-हीन दशा के बीच भी साहित्य के प्रति एक ललक पाते हैं, तब हमें यही कहना पड़ता है कि इसका यथार्थ कारण साहित्यिक अभिरुचि का अभाव है। युगों से जीती जागती हमारी साहित्यिक अभिरुचि आजकल कुंठित हो गई है।

यहाँ पर साहित्य से मेरा तात्पर्य स्थायी साहित्य से है जिसकी उप-

योगिता के विषय में भर्तृहरि ने कहा है:—"साहित्य संगीत कला-विहीन: । साक्षात्पशु: पुच्छविषाणहीन: ।" इस प्रकार के साहित्य के प्रति अभिरुचि का व्यापक अभाव सा होने के कारण, समाज का संवेदनात्मक स्तर धीरे धीरे गिरता जाता है, उसकी मानसिक वृत्तियाँ पूर्ण रीति से पनप नहीं पातीं और उसका शारीरिक, मानसिक और आत्मिक जीवन अस्वस्थ और अल्प होता जा रहा है ।

कहने के लिए आजकल समाचारपत्रों के पढ़ने का चाव बहुत अधिक बढ़ रहा है, पर उसकी मूल प्रेरणा जिज्ञासा की तृप्ति मात्र होती है । ज्ञान-भंडार बढ़ाने का भी उद्देश्य न होकर, जिज्ञासा को बुझाना मात्र ही इसका ध्येय रह गया है । जानकारी बढ़ाकर सामुहिक रूप से कार्य करने की क्षमता भी बहुत कम देखने को मिलती है । उसका भी कारण हमारे भीतर समवेदना—समानुभूति का अभाव है, जिसके रहते हमारे भीतर सामुहिक रूप से कार्य-प्रेरणा जाग्रत नहीं होती । समवेदना को विकसित करने वाला हमारा 'स्थायी साहित्य' होता है । अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि सम्मानपूर्वक स्वस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए साहित्य-सेवन आवश्यक है । इसके द्वारा हमारे भीतर, एक समान सोचने-समझने की शक्ति उत्पन्न होती है, एक सी अनुभूति का संचार होता है और हमारा सामाजिक जीवन एक सूत्र में बँधकर, अधिक संस्कृत होता जाता है । अतः सहित्यक अभिरुचि को हम जितना ही तीव्र रखते हैं, हमारा जीवन उतना ही मधुर और आनन्ददायी होता है ।

साहित्य या काव्य हमें जीवन-यापन की कला बताता है, जीवन के भीतर का सौन्दर्य खोलकर रख देता है । युगों के संदेश को प्रेय रूप में उपस्थित करके बिना प्रयास बता देता है कि भटकने की आवश्यकता नहीं, जीवन का मधुर मार्ग यह है । किन्तु हम यह सब भूल सकते हैं जब कि हमारी साहित्यिक अभिरुचि कुंठित हो जाती है । हम जानते

है कि जीवन के साथ खिलवाड़ करने या प्रयोग करने भर को ही समय हमारे एक जीवन में नहीं है। अतः हम आग की उष्णता और विष की मारणशीलता आग में हाथ डालकर या विषपान करके नहीं सीखेंगे, वरन् परम्परा से आये ज्ञान और अनुभूति को ग्रहण करके सुखद और दुःखद के विवेकी बनेंगे। क्या, हम यह साहित्यिक अभिरुचि के विकास के बिना कर सकते हैं?

साहित्य-सेवन हमारी अनुभूति का परिष्कार करता है। यही कारण है कि परिष्कृत-अनुभूतिवाले व्यक्ति अनजाने और कभी कभी अनचाहे ही साहित्यिक बन जाते हैं। कबीर और निर्गुण सन्तों के अन्तर्गत साहित्यिक बनने की कोई आकांक्षा न थी; पर वे अपनी परिष्कृत अनुभूति के कारण अनचाहे कवि बन बैठे। फिर, धनधान्य से समृद्ध होकर और दैनिक चिन्ताओं से मुक्त होकर ही साहित्य का सेवन और सृजन किया जाता है, इसमें भी सत्यता नहीं। बड़े बड़े निर्धनों, अकिंचनों ने जो साहित्यिक सृष्टि की है, वह इस बात का प्रमाण है। दैनिक चिन्ताएँ तो जीवन के साथ हैं, उनके कारण हम जीवन का आनन्द छोड़ दें, तो बात दूसरी है। साहित्य का सेवन, हमारे दैनिक श्रमशील तथा नीरस जीवन को भी सरस और सानन्द कर सकता है। हम आज शिक्षा की व्यापकता का दम भरते हैं; पर इसके पूर्व साधारण लोगों के भीतर जो साहित्यक अभिरुचि थी, वह आजकल हमें ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती। आधुनिक सभ्यता से अछूते तथा बड़े नगरों से दूर, गावों में अब भी पुरानी साहित्यिक अभिरुचि से सम्पन्न लोग मिल सकते हैं, यदि उनके गाँव में एक भी साहित्यिक, कवि या साहित्य-सेवी निवास करता है; पर इतने बड़े साहित्य-भंडार के बीच, नगर के लोगों में साहित्यिक अभिरुचि उस कोटि में देखने को नहीं मिलती। यह कथन देखने में कुछ उलटा सा जान पड़ता है, पर यदि यथार्थवादी दृष्टि से देखा जाय, तो हम इसके भीतर सत्य पावेंगे।

अब हम इसके दूसरे पक्ष पर विचार करें। हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तो क्या साहित्यिक अभिरुचि, मानव जीवन के लिए कृत्रिम और अस्वाभाविक है? और साहित्यिक और कवि-समाज अपनी रचनाओं द्वारा, कृत्रिम वायुमंडल में ही मानव-समाज को रख रहा है? यदि ऐसा है तो सचमुच साहित्य के दिन इने गिने हैं। पर गंभीरता-पूर्वक विचार करने से पता चलता है कि तथ्य इसके विपरीत है। साहित्य के अन्तर्गत, बहुत सी अस्वाभाविकताएँ आईं, सहज-जीवन को कृत्रिम बनाने का प्रयत्न हुआ, पर यह साहित्य-विशेष की प्रवृत्ति थी। साहित्यिकों या कवियों के विशेष सम्प्रदाय या वर्ग ने उन्हें यह रूप प्रदान किया, अन्यथा काव्य का स्वा भाविक और सहज रूप, कवि और काव्य-सेवी दोनों के लिए ही एक सहज-व्यापार है। काव्य का प्रादुर्भाव "मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीसमाः" के गायक के सहज, स्वाभाविक और समवेदनापूर्ण उद्‌गार के रूप में हुआ है। साहित्य जहाँ विद्वानों प्रतिभा-सम्पन्नों, साधकों, अभ्यासशीलों की सम्पत्ति बना, वहीं उसका दूसरा रूप जो लोक-गीतों जन साहित्य, आदि के रूप में मिलता है, वह स्वाभाविक उद्‌गार के रूप में ही है। अतः साहित्य, रचयिता के दृष्टि कोण से एक स्वाभाविक क्रिया है, कृत्रिम नहीं। इन स्वाभाविक उद्‌गारों के द्वारा जन-सामान्य के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, करुणा-दया, उत्साह-भय, क्रोध-घृणा, विलास-त्याग आदि के सहज भाव अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी दशा में जब तक मानव इन भावनाओं से संयुक्त है, तब तक इस प्रकार के उद्‌गारों में सभी को आनन्द मिलेगा।

साहित्य-सेवन भी उतना ही मानव जाति के लिए स्वाभाविक है जितना साहित्य-सृजन। साहित्य या काव्य की रचना एक स्वाभाविक क्रिया है, यह एक और बात से सिद्ध है संसार के सभी साहित्यकार शास्त्र—पारंगत, शिक्षित और विद्वान् पुरुष ही नहीं हुए, वरन् अशि-

क्षित, अनभिज्ञ लोगों के अपनी तीव्रानुभूति के सहज-उद्गार भी काव्य का रूप धारण कर चुके हैं। लोक-गीतों में एक से एक सुन्दर भाव वाले गीत हैं; कुछ तो ऐसे हैं जिनके समान पूर्ण प्रभावोत्पादक, कोई भी अकेला पद आज तक मुझे प्रसिद्ध काव्य-ग्रन्थों में नहीं मिला। ये गीत सहज-रीति से अंकुरित हुए हैं। झरनों के कलकल और पक्षियों के मनोहारी कलरव के समान ही मानव-कण्ठों से फूट निकले हुए ये कल-गान, गीतों, काव्य, और साहित्य की स्वाभाविकता को प्रमाणित करते हैं। हम तूलिका से चित्रपटों पर विभिन्न रंग भरकर विचित्र चित्र बनाते हैं, पर विचित्र, किन्तु सहज रंगों को लेकर नित्य, गुलाब, चम्पा, कचनार, बंधक, शेफाली आदि फूल भी खिलते हैं। जो इन दो प्रकार के रंगों का सम्बन्ध है वही कृत्रिम और सहज काव्य का है। किसी की रोचकता और महत्व कम नहीं; वरन् दोनों मानव-जीवन के दो रूपों को स्पष्ट करते हैं। अतः यह निर्विवाद सत्य है कि काव्य की रचना और काव्य का सेवन मानव समाज के जीवन के लिए आवश्यक और स्वाभाविक क्रिया है।

हाँ, हम एक बात मान सकते हैं कि साहित्य का बहुत कुछ अंश, विज्ञान, दर्शन, शास्त्र आदि ने ले लिया है। इससे साहित्य का शुद्ध क्षेत्र सीमित रह गया है, साहित्यकार यदि तथ्य कहता है, तो वह विज्ञान की वस्तु है; शाश्वत् सत्य खोजता है तो यह दर्शन की वस्तु है; जीवन का उपयोगी मार्ग बताता है, तो शास्त्र की वस्तु है। यदि यह नहीं करता, तो उसका उपयोग क्या? उत्तर यही हो सकता है, मनोरंजन। किन्हीं किन्हीं कोनों से हमें यह चेतावनी भी मिलती है कि उपदेश देना, कवि का काम नहीं; तथ्य-निरूपण, कवि का काम नहीं; सत्य की खोज कवि का कर्तव्य नहीं। तो कवि का करणीय है क्या? सहज उत्तर आता है, भावोद्बोधन, और उक्ति चमत्कार द्वारा मनोरंजन। इन चेतावनी देने वाले और उसकी प्रतिध्वनि के रूप में सहज-

प्राच्य उत्तर के शब्दों ने साहित्य का क्षेत्र संकुचित कर दिया है और साहित्यकार को भूल-भुलैयाँ में डाल दिया है। विभिन्न सीमाओं की ललकारों ने साहित्यकार को अन्य क्षेत्रों से खदेड़ कर, शुद्ध-साहित्य कहे जाने वाले क्षेत्र में डाल रखा है। बस इसीसे साहित्य के सामने इतनी समस्यायें आ खड़ी हुई हैं।

पर यथार्थ में यह भ्रान्त धारणा है। विज्ञान, दर्शन और शास्त्रों के विस्तार ने साहित्य के सामने और भी विस्तृत, व्यापक और नवीन क्षेत्र खोल दिये हैं। साहित्य के लिए प्रतिबन्ध नहीं, किसी भी क्षेत्र में जा सकता है; पर उसकी रचना अन्ततोगत्वा साहित्य होनी चाहिए, दर्शन, विज्ञान या शास्त्र नहीं।

जीवन की विविधता के समान साहित्य विराट् है। उसकी सूक्ष्मता के समान साहित्य जटिल है और उसकी सुघरता के समान साहित्य सुन्दर है, पर उसकी कुरूपता के समान कुरूप नहीं। अतः साहित्य के प्रत्येक रूप पर विचार करने के साथ सुरुचि का सम्बन्ध आवश्यक है। सुरुचि के बिना साहित्य, साहित्य नहीं। साहित्य सदा ही सुन्दर और रमणीय है। अतः साहित्य का सुरुचि से अनिवार्य सम्बन्ध है। साहित्य का सुरुचि से सम्बन्ध होने के कारण ही, साहित्य सदा ही विकास-शील है। यह हो सकता है किसी युग-विशेष का साहित्य, दूसरे युग के लिए उतना उपयोगी और रमणीय अथवा प्रगतिशील न रह जावे, पर अपने युग का साहित्य उस युग की सुरुचि को ही लेकर चलता है, उसका अन्तिम लक्ष्य सुरुचि-सम्पादन ही है। युग के अनुसार वर्णन की मर्यादा और मान्यताएँ बदला करती हैं, इसीलिये कभी कभी हम पिछले युगों के साहित्य में अश्लीलता भी पाते हैं। अश्लीलता जो एक निषिद्ध वर्णन को अपने भीतर लिए रहती है, वह तो निश्चय ही कुरुचि-पूर्ण है और किसी भी युग में समादृत नहीं हो सकती, पर इसके अतिरिक्त शिष्टता और सभ्यता की परिधि में भी किसी युग में

साहित्यिक अभिरुचि को बढ़ायेगा, वरन् वह संस्कृति, सभ्यता और मानवता का विकास करने में भी समर्थ हो सकेगा।

साहित्यिक अभिरुचि बढ़ाने का दूसरा उत्तरदायित्व आलोचक पर है। साहित्यकार या कवि पूर्णरीति से सतर्क और सचेत होते हुए भी, सदा ही वांछनीयता पर विचार नहीं कर सकता। अतः समालोचक का कर्तव्य है कि साहित्यकार-द्वारा निर्मित साहित्य को निष्पक्ष रीति से कसौटी पर कसकर, खरे-खोटे का स्पष्ट विवेचन करे। जब किसी साहित्य में खरे समालोचक होते हैं, तब प्रायः अच्छे लेखक पनपते हैं। समालोचक का कार्य बड़ा कठिन है। वह न्यायाधीश है। उसे यथार्थ समालोचना करनी है। कवि का बड़प्पन और प्रसिद्धि उस पर बेजा प्रभाव नहीं डाल सकती और किसी कवि की अप्रसिद्धि भी उसकी कवित्व-प्रतिभा को मन्द नहीं कर सकती। जो रचना जैसी है, उसको ठीक वैसी ही बताना आलोचक का कार्य है, मित्रता या गुटबन्दी का व्यवहार निभाने वाले समालोचक साहित्य पर कुठाराघात करते हैं।

कवि और समालोचक दोनों के ठीक कार्य करने पर भी, व्यापक प्रभाव तब तक नहीं पड़ पाता जब तक कि पत्रकार सहायक न हों। कविता या अन्य साहित्यिक रचना का पहला स्वागत पत्र ही करते हैं और पत्रकार ही पहला आलोचक भी है। साहित्य का सत्प्रचार और सत्समालोचना पत्रकार की सहायता से ही हो सकती है। पत्रकार को विवेकी, उत्साही, खोजी, उदात्त, मर्मज्ञ और विद्याविद् होना चाहिए, तभी वह सहित्यकार की रचना भी परख सकता है और समालोचना का भी आदर कर सकता है। आजकल दुर्भाग्य से सुयोग्य पत्रकार इने-गिने हैं, इसी कारण साहित्यिक अभिरुचि इतने निम्नांश पर झुकी हुई है। पत्रकार की योग्यता, लेखक और समालोचक के पहचानने में है।

यह सूझ उसका बड़ा आवश्यक गुण है।

पत्रकार के समान ही हमारे प्रकाशकों को भी गुणी और गुण-ग्राहक होना चाहिए। सत्कवियों और साहित्य-निर्माताओं को प्रोत्साहन देना उन्हीं का कार्य है। उन्हें याद रखना चाहिये कि प्रकाशक होना केवल जीविकोपार्जन का व्यापार ही नहीं, वरन् बड़ी ही उच्च और पवित्र देश, समाज और साहित्य-सेवा भी है, जिसे न करने पर इन सब की दुर्दशा के वही उत्तरदायी होंगे। यह ऐसी सेवा है कि परार्थ में स्वार्थ-सिद्धि भी निहित है।

सबसे अन्तिम, पर अत्यन्त महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हमारी सरकार का है। सरकार का कर्तव्य सत्साहित्य का प्रोत्साहन देना और उसके प्रचार, विस्तार और विकास का प्रबन्ध करना है। अब अपने स्वतंत्र देश में सभी का पहला कर्तव्य यह है कि शासक सत्यनिष्ठ, सद्वृत्त, न्यायी और देश, समाज एवं जनता के उन्नायक हों; तथा जनता और देश भी ऐसे शासकों के अनुकूल, न्याय-प्रिय, संस्कृत, समृद्ध और शिष्ट हो। शासक-मण्डल का जन-शिक्षा का कार्य अब आन्दोलन और गुटबन्दी से नहीं हो सकता। उसके लिए उसका सुगम मार्ग है, सत्साहित्य को प्रोत्साहित कर, उसका समुचित विकास एवं प्रचार कर जनता में साहित्यिक अभिरुचि को उत्पन्न करना। उत्तम साहित्य के सेवन से जनता में अपनेआप विवेक, कर्तव्य पालन और सत्य-न्याय की प्रवृत्ति जाग्रत होती है। साहित्य से बढ़कर शीघ्र और स्थायी प्रचार करने वाली दूसरी शक्ति नहीं। अतः हमारी सरकार का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व साहित्यिक अभिरुचि के बढ़ाने में है। कवि, उनका प्रोत्साहन पाकर सच्चे, मनोरम और उपयोगी साहित्य का सृजन कर सकेंगे। समालोचक अपनी निष्पक्ष समालोचना तभी कर सकते हैं जब उसकी जनता और सरकार में कदर हो सके। और पत्रकार भी अपनी

सद्वृत्ति का प्रयोग अधिकारियों के संकेत अथवा सद्वृत्ति के बिना नहीं कर सकते हैं। अतः इस साहित्यिक अभिरुचि के हेतु सरकार का भी बड़ा उत्तरदायित्व है, जिसे वह जितनी शीघ्र समझें, उतनी ही शीघ्र जन-कल्याण और उच्च साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ होगी।

आज हम साहित्यिक अभिरुचि के विकास की बात इसलिए कर रहे हैं कि स्वतंत्र होकर अब हमें अपने साहित्य को विश्व-साहित्य के समकक्ष रखना है; उसकी उच्चता और विशालता को निभाना है। यह संयोग की ही बात है कि हमारा प्राचीन साहित्य उच्च और महान् है, उसकी समता विश्व के इने गिने साहित्य ही कर सकते हैं, पर हम अपने पूर्वजों के बलबूते पर आज की लड़ाई तो नहीं जीत सकते। आज गौरव तो हमें अपने हाथों अर्जित करना है, अन्यथा हम महान् पूर्वजों की निकृष्ट सन्तान कहायेंगे।

अपनी संस्कृति और आदर्शों की महानता हम साहित्य द्वारा ही प्रकट कर सकते हैं। हम प्राचीन काल में महान् थे इसे सिद्ध करने का हमें आज अवसर मिला है। इसे हम अपने कार्यों और विशेष रूप से साहित्य-द्वारा सिद्ध करेंगे। साहित्य का सम्पर्क अधिक दूर तक जाता है, कार्यों और व्यक्तित्व का सम्पर्क उतना स्वच्छन्द और व्यापक नहीं है। उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के समीपवर्ती देश भी हमारे साहित्य को पढ़ सकते हैं और उसी के द्वारा हमारी जाति, संस्कृति और देश के आदर्शों को जान सकते हैं और यदि वे यथार्थ में ऊँचे और सार्वभौम हैं, तो हमारे पथ के पथी भी हो सकते हैं।

साहित्यकार को इतना बड़ा दायित्व सँभालना है अतः आवश्यक है कि सभी उसकी सहायता करें। अकेले एक साहित्यकार ऊँचा हो सकता है, अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा से; पर यदि हमें युग के सभी कवियों और लेखकों को उच्च और महान् बनाना है, तो हमारे भीतर साहि-

त्यिक अभिरुचि का पूरा स्पन्दन होना चाहिए। हमारे भीतर साहित्य के लिए ललक हो, उसकी बारीकी हम समझ सकें, उसके गुणों को ग्रहण कर सकें और उसके दोषों का निर्दोष कर सकें। जब ये गुण हमारे देश के जन-समूह में आ जायेंगे, तभी समझिये कि साहित्यिक अभिरुचि जाग्रत हुई है और हम विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि तभी हमारे साहित्यकारों की कृतियाँ विश्व भर में समादर और प्रतिष्ठा प्राप्त रक सकेंगी।

प्राचीन हिन्दी-कवियों का काव्यादर्श

२

प्राचीन हिन्दी-कवियों का काव्यादर्श

आजकल हम काव्य का आदर्श, उसके तत्व, प्रयोजन और सिद्धांत प्रायः लक्षण-ग्रन्थों में खोजते हैं। लक्षण-ग्रन्थ ही काव्यशास्त्र के विविध अंगों को स्पष्ट भी करते हैं। लक्षण-ग्रन्थ मौलिक काव्य-ग्रन्थों के आधार पर निर्मित किये जाते हैं। संस्कृत और हिन्दी में इस प्रकार के लक्षणग्रन्थ बहुत बड़ी संख्या में हैं। हिन्दी के रीतिकाल में तो विशेष रूप से लक्षणग्रन्थों की ही रचना हुई, किन्तु ये ग्रन्थ अधिकांश संस्कृत के काव्यशास्त्र-ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये हैं और उदाहरण लक्षणों के आधार पर प्रायः उन्हीं लक्षणकार कवियों द्वारा हिन्दी में रचे गये। ऐसी दशा में हिन्दी काव्यशास्त्र-ग्रन्थों में इस बात की कमी है कि उनके लक्षण स्वच्छन्द रीति से लिखे गये हिन्दी काव्य के आधार पर नहीं हैं। स्वच्छन्द हिन्दी कविता की अपनी विशेषताएँ उसके अनेक भेद-प्रभेद तथा उनके लक्षण और परिभाषाएँ इन प्रसिद्ध काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में नहीं आ पाईं।

किसी भाषा के काव्य के आधार पर जो काव्यादर्श निरूपित किया जाता है, वह निरूपण करने वाले की अपनी व्याख्या और दृष्टिकोण से प्रभावित रहता है। सामान्य रूप से यह आदर्श और सिद्धान्त सप्रमाण और मान्य होता है, पर विशिष्ट रूप से यह आदर्श आधारभूत काव्य के रचयिता का ही है—इस सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकता है। कविता के सहारे आदर्श या सिद्धान्त निकालने का महत्व अवश्य है,

पर उनमें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार विभिन्न व्याख्यायें हो सकती हैं। अतः भिन्न कवियों का काव्यादर्श यदि उनके ही शब्दों में मिल सके तो वह हमें उनके काव्य की ठीक ठीक व्याख्या ही करने में केवल मदद नहीं देता, वरन् काव्य-सम्बन्धी आदर्श के विकास के अध्ययन में भी सहायक होता है। अतः हम इस दृष्टिकोण से स्वच्छन्द रूप में लिखे गये काव्य के अन्तर्गत कवि के अपने शब्दों में लिखित काव्यद्रर्श का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

यह सदा सम्भव नहीं कि सभी कवियों का उनके शब्दों में काव्यादर्श मिल जाय, और न यह ही सम्भव है कि काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर विचार मिल सकें, पर यदि कुछ मिलते हैं तो उनसे काव्य-स्वरूप-सम्बन्धी उनकी धारणा तो स्पष्ट हो ही जाती है। और कभी कभी किसी एक अंग पर विचार प्राप्त कर उसके सहारे दूसरे अंगों की भी थोड़ी बहुत व्याख्या उनके कथन के प्रकाश में की जा सकती है। अतः इस प्रकार के कथनों द्वारा काव्यादर्श को स्पष्ट करने में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस निबन्ध में हम आधुनिक काल से पूर्ववर्ती कुछ कवियों का इसी उद्देश्य से अध्ययन करेंगे।

हिन्दी के कवियों ने यद्यपि अपनी रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी उल्लेख बहुत कम किए हैं, फिर भी प्रयत्न करने पर जो यत्र तत्र कथन उपलब्ध होते हैं, वे काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। पूर्ववर्ती कवियों का विभिन्न-कालीन काव्यादर्श यदि हम संक्षेप में व्यक्त करना चाहें तो कह सकते हैं, कि वीरगाथा-लेखक कवियों का आदर्श लोक-भाषा में अतिशयोक्तिपूर्ण ढंग से वीर पुरुषों और विशेष कर राजाओं महाराजाओं की वीरता, वैभव और विलास का वर्णन करना है; उनका मुख्य उद्देश्य, बढ़ाकर वर्णन करना जान पड़ता है। भाषा की शुद्धता, काव्यशास्त्र के नियमों का पालन और सूक्ष्म उक्ति-चमत्कार

की ओर उनका ध्यान नहीं; मध्यकालीन भक्त कवियों तथा सिद्ध-जैन कवियों के काव्यादर्श में धार्मिकता प्रधान है, निर्गुण या सगुण ईश्वर के स्वरूप का वर्णन, साधन के रूप में योग या भक्ति सम्बन्धी चुभती उक्तियाँ और भावपूर्ण कथन—इन कवियों का मुख्य उद्देश्य जान पड़ता है। सिद्ध, जैन और निर्गुणोपासक कवियों में साधनों का इतना अधिक वर्णन है कि इनकी रचना को उपदेश-प्रधान ही कह सकते हैं, पर सगुणोपासक या भक्त कवियों का काव्य बड़ा ही सरस और भाव-पूर्ण है। भाषा की दृष्टि से भी यह शुद्ध, प्रयोग-व्यवहार-संगत, और ललित है। इन कवियों में नम्रता का भाव विशेष है। पर रीति-कालीन कवियों में काव्यशास्त्र के आधार पर ही चलने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। परिमार्जित प्रांजल भाषा, उक्ति-वैचित्र्य, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि की सिद्धि इनका लक्ष्य है।

आधार-रूप में, अधिकांशतः हिन्दी कवियों का पथ-प्रदर्शक संस्कृत-काव्य है। वीरगाथा और भक्ति-कालीन काव्य अधिकांश रामायण, महाभारत, रघुवंश और पुराणों को अपने आदर्श रूप में लेकर चलता है और रीतिकालीन काव्य, संस्कृत के लक्षण-ग्रंथों जैसे नाट्य-शास्त्र, काव्यादर्श, चन्द्रालोक, रसमंजरी, रसतरंगिणी, काव्यप्रकाश, आदि को। व्यक्तिगत कवि भी अपनी विशेष युग-प्रवृत्ति के अनुसार इन्हीं ग्रंथों से प्रभावित हुए हैं, पर उनकी समयोपयोगी अपनी विशेषताएँ अवश्य हैं।

वीरगाथा-युग की कविता राजाओं की प्रशंसा; युद्ध-वर्णन तथा उनके वैभव-विलास के चित्रण से भरी पड़ी है। वर्णन-पद्धति पर रामायण और महाभारत का प्रभाव है, आश्चर्यकारी घटनाएँ, वंशवर्णन आदि पुराणों के समान है, यद्यपि नखशिख, वयस्सन्धि, उद्दीपन आदि का वर्णन कहीं कहीं शास्त्रीय पद्धति पर है। मुख्य विशेषता, कल्पना

कही और वर्णन की स्वच्छन्दता है। महाकवि चन्द का 'पृथ्वीराज रासो' ऐसा ही ग्रन्थ है, और बीसलदेव, खुमान, परिमाल आदि रासो भी इसी पथ का अनुसरण करने वाले हैं। चन्द ने 'पृथ्वीराजरासो' के प्रथम 'समय' के एकछन्द में लिखा है:—

"उक्ति धर्म विसालस्य। राजनीतिं नवं रसं।
षट्भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया॥"

इस कथन से चन्द का यह उद्देश्य स्पष्ट है कि वह अपने काव्य में सभी प्रकार के ज्ञान और व्यवहार की चर्चा करना चाहते हैं। 'पृथ्वीराजरासो' में धर्म, राजनीति, नबरस, का वर्णन और अनेक भाषाओं के ज्ञान का प्रदर्शन है। प्रति प्रामाणिक न होने से भाषा की अशुद्धि खटकती है, पर अन्य बातें उसमें अवश्य मिलती हैं। काव्य-शास्त्र के अनुसार वर्णन करने और विशेष रूप से प्रबन्ध-काव्य को संगठित करने का प्रयत्न नहीं है, मनमाना वर्णन अधिक है। उनकी दृष्टि से घटनाओं का स्वच्छन्द वर्णन लिखना ही आवश्यक जान पड़ता है और नवीन उद्भावना और लौकिक तथ्यों में अलौकिक कारण प्रस्तुत कर देना कवि की प्रतिभा की विशेषता होनी चाहिये, यह भी प्रकट है। 'पृथ्वीराज रासो' में व्यापक रीति से काव्यशास्त्र के अंगों पर विचार प्राप्त नहीं होते केवल कहीं कहीं रचनाओं में प्रयुक्त छन्द के लक्षण देने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

प्राचीन हिंदी के सिद्ध और जैन कवियों की रचनाओं में भी राजनीति स्वंदर्शन-सम्बन्धी कोई विशेष विचार नहीं मिलते। पर व्यापक रीति देखने पर हम कह सकते हैं कि सिद्धों का उद्देश्य सरल और बोलचाल की भाषा में रहस्यवाद, योग, तन्त्र आदि के उपदेश और परम्पराओं

का खण्डन-मण्डन है; पर पुरानी हिन्दी के अन्य कवियों का निश्चय रूप से काव्य-सम्बन्धी आदर्श बहुत कुछ 'पृथ्वीराज रासो' का सा ही था। कुछ कवि साधारण जनता की बातों जैसे, गरीबी, अकाल आदि का वर्णन भी करते थे जैसे *पुष्पदन्त, †अब्दुर्रहमान, ‡बब्बर आदि पर कुछ अन्य कवियों के आदर्श वही रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ थे। चन्द के पूर्व (७९० ई० के आसपास) §स्वयंभुदेव के रामायण, हरिवंशपुराण तथा पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ नायकुमार चरिउ आदि ग्रन्थ इसी आधार पर हैं। स्वयंभुदेव ने कालिदास की सी नम्रता और तुलसीदास की भाँति दीनता एवं काव्यशास्त्र से अनभिज्ञता का भाव प्रदर्शित किया है। यद्यपि इन्हीं की भाँति उनकी रचनायें भी काव्य-गुणों से सम्पन्न हैं। आत्मपरिचय देते हुए उन्होंने लिखा है:—

"बुहयण सयंभु पइँ विणवइ। महु सरिसउ अण्णु णाहि कुकई॥
वायरणु कयाइण जाणियउ सउ वित्ति सुत्त बक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पंच महायकव्वु। णउ भरहणा लक्खणु छंदु सव्वु॥
णउ बुज्झउँ पिंगल पच्छारु। णउ भामह दंडियलंकारु॥"

---

* पुष्पदंत (पुफ्फयत)—काल ९५९-७२, देश—ब्रज या यौधेय

† अब्दुर्रहमान—१०१०ई०। देश-मुल्तान। कुल जुलाहा।

‡ बब्बर—१०५० ई० (कर्ण कलचूरी का दरबारी कबि था) देश-त्रिपुरी चेदि।

§ स्वयंभूदेव कविराज। काल-७९० ई० (ध्रुव धारावर्ष ७८०-९४ ई० देश-कोसल।
कवि नरदेव और पद्मिनी के पुत्र, आदित्यदेवी के पति,
कृतियाँ—हरिवंशपुराण, रामायण और स्वयंभू-छन्द।

❀ हिन्दी काव्यधारा—(राहुल सांकृत्यायन)—पृ० २२

"स्वयंभु बुधजनों के प्रति विनती करता है कि मेरे समान अन्य कुकवि नहीं है। मैं व्याकरण कुछ भी नहीं जानता हूँ, न वृत्ति-सूत्र का वर्णन कर सकता हूँ। न पाँच महाकाव्य सुने हैं। न भरत का शास्त्र जानता हूँ और न सभी छन्दों के लक्षण। न पिंगल का विस्तार जानता हूँ और न भामह और दण्डी का अलङ्कार-निर्णय ही!" कहने का उद्देश्य यह है कि उपर्युक्त काव्यशास्त्र सम्बन्धो बातों का शास्त्रीय विवेचन कवि नहीं जानता, पर स्वाभाविक रूप में कवि इन्हें काव्य के लिए आवश्यक समझता है। जैसा कि राम कथा का परिचय देते हुए अपनी रामायण में स्वयंभू ने लिखा है:—

अक्खरवासजलोह मणोहर । सुयलंकार-छन्द मच्छोहर ॥
दीह-समासा पवाहा बंकिय । सक्कय पायय पुलिणालंककिय ॥
देसी-भासा उभय तडुज्जल । कवि-दुक्कर घण-सद्द-सिलायल ॥
अथ्थ-बहल कल्लोला णिट्ठिय । आसा-सय-सम-ऊह परिट्ठिय ॥
राम कहा सरि एह सोहती........इत्यादि—

(रामायण-हिन्दी काव्यधारा पृ० २६)

अक्षर जिसमें मनोहर जलोक-(जोंकें) हैं, सुन्दर अलंकार और छन्द मछलियाँ हैं। दीर्घ-समास टेढ़ा जल प्रवाह है। संकृत-प्राकृत के पुलिन हैं। देशी भाषा के दोनों उजले तट है। कवियों के लिये कठिन घने शब्द कठोर शिलातल हैं। अनेक अर्थ-वाली कल्लोलें हैं, और सैकड़ों आशायें तरंगे हैं। इस प्रकार यह रामकथा की सरिता शोभित हो रही है।

इस प्रकार राम कथा वर्णन के मुख्य उद्देश्य में सभी अङ्ग स्वाभाविक रीति से शोभित हैं। यह कवि का आदर्श वही है जो तुलसी ने भी अपनाया और उपर्युक्त वर्णन रामचरित्र मानस के वर्णन से तुलनीय है।

अलंकार छन्द तथा शब्द-अर्थ को महत्व देने के साथ मुख्य बात लोकभाषा को गौरव देना है।

लोकभाषा को गौरव देने का अभिप्राय दुहरा है। पहला तो यह कि इस भाषा में लिखी गई वस्तु जन-जन के भीतर प्रवेश पा सकती है और उसका प्रचार व्यापक रूप से हो सकता है, दूसरा यह कि यह भाषा सब को अच्छी लगती है और इसके साथ इसकी पूर्ववर्ती भाषाएँ आ सकती हैं, पर पूर्ववर्ती भाषाओं में लोकभाषा का संयोग अच्छा नहीं जान पड़ता। इसको परवर्ती कवियों ने समझ कर ही लोकभाषा को अपनाया था। विद्यापति ने यद्यपि संस्कृत, प्राकृत आदि में रचना की थी, फिर भी उनका स्पष्ट कथन है कि सब से अधिक मधुरता प्रचलित लोकभाषा में है, क्योंकि उसमें प्रयोग की सजीवता है। भाषा-विषयक यह विचार उनका "कीर्तिलता" की निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है :—

सक्कय वाणी बहुयण भावइ। पाउँअ रस को मम्म न पावइ।
देसिल वअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जम्पओं अवहट्ठा॥

(कीर्तिलता, प्रथम पल्लव)

अर्थात् संस्कृत भाषा केवल विद्वानों को ही अच्छी लगती है, प्राकृत भाषा रस का मर्म नहीं पाती, देशी भाषा सब को मीठी लगती है इसी से अवहट्ठ (मिथिला की लोकभाषा) में मैं रचना करता हूँ। विद्यापति की दृष्टि से वाणी का मुख्य उद्देश्य चतुरजनों का मनोरञ्जन था। कविता के प्रधान उद्देश्य, इष्टसिद्धि और मनोरञ्जन के साथ विद्यापति ने अपनी भाषा की सफलता और माधुर्य के विषय में लिखते

हुए कहा है :—

बालचन्द्र विज्जावइ भाषा। दुहुँ नहि लागइ दुज्जन आसा।
ओ परमेसर हर सिर सोहई। ई निच्चय नागर मन मोहई॥

विद्यापति की भाषा के माधुर्य के विषय में दो मत नहीं हो सकते। जयदेव के गीत-गोविन्द के उपरान्त भारतीय साहित्य में मधुरता के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध मैथिलकोकिल विद्यापति ही हैं। इनका उद्देश्य साहित्यिक था। ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा की कविता के लिए आवश्यकता है, यह इनकी रचनाओं से प्रगट होता है। भक्ति विषयक काव्य करते हुए सूक्ष्म-कल्पना, अलंकार, भाव, गुण, व्यंजना आदि का चमत्कार इनकी रचना में बराबर विद्यमान हैं। अतः उनके काव्यादर्श में इन गुणों की आवश्यकता निश्चित है।

निर्गुणोपासक सन्त कवियों की रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी कोई कथन उपलब्ध नहीं होते। सिद्धों की भाँति इनका भी उद्देश्य साहित्यिक नहीं था। कबीर के विचार से कवि और विद्वान्, कोई सम्मान्य व्यक्ति नहीं थे। ये दोनों ही मरे हुए व्यक्ति थे—क्योंकि अमर आत्मा की ज्योति जगाकर इन्होंने अपने को सजीव नहीं किया था। उनका स्पष्ट कथन है :—

'कवि कवीने कविता मुए।'

तथा

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।

(साखी)

इससे यही अर्थ निकलता है कविता के विषय में उनकी एक अपनी धारणा थी। कबीर, उक्ति वैचित्र्य, अलंकार, कल्पना की उड़ान, झूठी और अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णना को ही कविता समझते थे। अतः उन्होंने तथ्यनिरूपण से इसे अलग रखा है। यदि किसी कथन में

केवल मनोरञ्जन है, शब्द चमत्कार है, सार नहीं, तो कबीर की दृष्टि से उसका महत्व नहीं। कबीर के समय में कविता आध्यात्मिक तथ्य-विहीन और लौकिक वर्णन से पूर्ण अवश्य थी अतः ऐसे कवि के व्यक्तित्व से वे अपने को अलग रखना चाहते थे।

कबीर की अनेक साखियों और पदों में अलंकार और उक्ति-वैचित्र्य है, पर उसके भीतर तथ्य-निरूपण और सत्य का उद्‌घाटन भी है जो लोक-कल्याण कारी है। अतः कबीर की दृष्टि से जो, काव्य सार्थक हो सकता था उसके लिए स्वानुभूति-प्रधान, और तथ्य-युक्त होना आवश्यक था। कबीर भाषा और कथन—चमत्कार की विशेषता में विश्वास नहीं करते। वे सीधे, स्वाभाविक रीति से सहजानुभूति के प्रकाशन ही में मानव-अभिव्यक्ति की सफलता समझते थे। विद्यापति की भाँति कबीर के विचार से भी लोक-भाषा अधिक उपयोगी है। लोक-भाषा में कहा गया तथ्य सर्वजन सुलभ होता है। अतः बोलचाल की भाषा का पक्ष-समर्थनकरते हुए उन्होंने कहा है:—

"संसकिरत कूप जल कबीरा, भाषा बहता नीर"

कबीर का उद्देश्य अपनी अनुभूति को प्रकट करने का था। कल्पित रूप में कवि-यश के लोभ में कही गई उक्तियाँ उनकी दृष्टि में हेय थी। यदि हमारी कोई स्वानुभूति की प्रेरणा नहीं, तो, हमें मौन रहना चाहिए। दूसरी बात यह है कि कबीर, कथन को खाती और प्रभाव शाली बनाने के पक्ष में तो थे, पर जीवन के तत्व से हीन केवल उक्ति वैचित्र्य में उनका विश्वास न था। अतः काव्य के लिए तत्व-ज्ञान और सहजानुभूति कबीर की दृष्टि में आवश्यक थी और इससे हीन अन्य उद्देश्यों से प्रेरित कवि या कविता उनकी दृष्टि में मूल्य-हीन थी, जिसकी उन्होंने निन्दा की है।

जायसी का काव्यादर्श

जायसी का काव्य-विषयक आदर्श अधिक व्यापक और साहित्यिक है। उनकी कविता में कला-पक्ष के लिए भी समुचित सम्मान मिलता है। कबीर की भाँति जायसी कवि यश की आकांक्षा से सर्वथा रहित न थे। वरन् उनकी रचना में यश-की भूख बराबर विद्यमान मिलती है। 'पद्मावत' ग्रन्थ के अन्त में वे लिखते हैं:—

जोरी लाइ रकत कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल भेई।
औ मैं जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।"

जगत में अपना नाम, यश अथवा चिन्ह छोड़ जाने के लिये अपनी रचना को जायसी ने रक्त की लेईसे जोड़ा था। यह रक्त की लेई क्या है? साधना के द्वारा प्राप्त व्यापक अनुभूति। इसी अनुभूति के कारण जायसी ने प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थों में अपनत्व प्राप्त किया था, और इसी के सहारे उन्होंने देखा था कि जिस संघर्ष और भावना में मानव मग्न है, वही प्रकृति को विकल कर रही है। इससे यह स्पष्ट है कि जायसी किसी काव्य-रचना को स्थायी होनेके लिए इस व्यापक अनुभूति को आवश्यक समझते थे। काव्य का प्रयोजन उनकी दृष्टि से यश है, जो मम्मट के छः प्रयोजनों "काव्य यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये; सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेश युजे—में से एक है जायसी ने लिखा है:—

"कहँ सुरूप पद्मावत रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी॥
धनि सोई जस कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केहि न जगत जस बेचा केहि न लीन्ह जस मोह
जो यह पढ़ै कहानी, हहूँ सँवरै दुइ बोल।।"

(पद्मावत)

यश को प्राप्त करने की इच्छा भी संसार में स्वभावतः विद्यमान है, और अपने यश को बेचने की प्रवृत्ति भी। इसी लिए अपने नायक

को अमर रखने के साथ स्वयं अमर रहने की कितनी विनीत भावना जायसी के हृदय में उपस्थित है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कवि की कविता उत्कृष्ट होनी चाहिए। वही काव्य अमर हो सकता है जो उत्कृष्ट हो और काव्य की अमरता के साथ साथ ही उसका नायक और कवि भी अमर होता है। अतः अब प्रश्न होता है कि अमरत्व प्राप्त करने के लिए कविता में कौन गुण होना आवश्यक है? जायसी ने यद्यपि शास्त्रीय पद्धति पर इस प्रकार काव्य की उत्कृष्टता, या आत्मा, पर विचार नहीं किया, पर उनके कथनों में इसका पूर्ण आभास मिलता है। जिसमें यह काव्य का तत्व विद्यमान है उसका स्थान जायसी की दृष्टि से बहुत ऊँचा है। उत्तम कविता का तत्व जायसी की दृष्टि से 'विमोहकत्व' है। उन्होंने लिखा है:—

एक नयन कवि मुहमद गुनी। सोइ विमोहा जेहि कवि सुनी॥

यह 'विमोहकत्व' ही साहित्यदर्पणकार का 'रस' और पंडित-राज जगन्नाथ का "रमणीयार्थ" है। इसी में कवि की सफलता और उसका जादू है अपना कविता में 'विमोहकत्व' या रमणीयता लाने के लिये कवि को स्वयं अपने विषय में विमोह जाना या तन्मय हो जाना आवश्यक है। जायसी ने यह कहा नहीं, कर के दिखाया है। उनके वर्णन से स्पष्ट है कि वे अपने वर्ण्य विषय में कितने घुल मिल जाते हैं। जहाँ कहीं सौन्दर्य मिलता है जायसी उसमें तन्मय हो जाते हैं और उसी आत्म-विभोर अवस्था में हृदय के जो उद्गार निकलते है उनमें मुग्ध कर लेने का जादू होता है।

काव्य के अधिकारी

जायसी की दृष्टि से कविता के प्रभाव के लिए कवि और कविता का ही गुण-सम्पन्न होना पर्याप्त नहीं, सुनने वाले या पाठक के भीतर

भी कुछ गुणों का होना आवश्यक है। जिसके भीतर ये गुण हों वही काव्य के अधिकारी या रसिक हैं, और इन गुणों से हीन 'अरसिक' हैं जो कभी काव्य का आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इन्हीं अरसिकों की ओर लक्ष्य करके संस्कृत के एक कवि की उक्ति हैं :—

"अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं, शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।"

और हिन्दी के भी एक कवि ने लिखा है :—

"कविता समझाइबो मूढ़न को सविता गहि भूमि पै डारनो है"
(नाथूराम शंकर)

जायसी ने काव्याधिकारी में 'सहृदयता' का गुण आवश्यक बताते हुए, उसकी उपमा भौंरे और चींटे से की है और अरसिक, मेढ़क और काँटे के समान है। भौंरे, दूर से ही फूल की सुगन्धि पाकर पास आ जाता है, पर काँटा, पास रहता भी—उसे नहीं जानता। चींटा दूर रहता हुआ भी गुड की सुगन्धि पाते ही पास आता है, पर मेढक कमल के पास रहता हुआ भी गुणों को नहीं पहचानता। इसको निम्नलिखित पंक्तियों में जायसी ने व्यक्त किया है :—

कवि बियास रस कँवला पूरी। दूरि सो नियरि नीयरि सो दूरी।
नियरे दूर, फूल जस काँटा। दूरि सो नियरे जस गुड़ चाँटा।
भँवर आइ बनखण्ड सन, लेइ कँवल कै बास।
दादुर बास न पावई, भलहि जो आछे पास॥ (पद्मावत)

जायसी की दृष्टि में श्रेष्ठ कवि, व्यास के रूप में होता है। उसकी रचना में ऐसा ही रस रहता है जैसी कि 'कमल में मकरन्द-श्री। कल्पना और अनुभूति से सम्पन्न कवि की कविता, रसिक भ्रमरों के लिए कमल-मकरन्द के समान ही आकर्षण रखती है।

स्वानुभूति और तन्मयता के साथ ही कवि को रहस्य-दर्शन की दृष्टि प्राप्त होती है जो न केवल पाठक के लिए गहरी रुचि और आनन्द का सम्पादन करती है, वरन् कवि को भी चिरन्तन उत्साह से भरती रहती है। यह साधना-प्रसूत दृष्टि, प्रकृति के रहस्यवादियों की विशेषता है। जायसी के सिंहल के उपवन, समुद्र, षटऋतु आदि के वर्णन इसी दृष्टि को छिपाये हैं। जायसी का वर्णन काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर नहीं, पर उनकी स्वानुभूति, गहरी रुचि, सौन्दर्य-प्रेम और रहस्य उनके वर्णन के अंग अंग में रस और चमत्कार भर देती है। अपनी रहस्य-दर्शन की प्रवृत्ति के कारण जायसी ने प्रकृति के व्यापारों की जो विलक्षण व्याख्या की है, वह अपने आप अलंकारों से उनकी रचना को युक्त कर देती है, और इसी के कारण प्रकृति को अनुभूतियों से युक्त चित्रण करने में वे इतने सफल भी हो सके हैं जो केवल उद्दीपन के रूप में चित्रित प्रकृति से कहीं विशेष आकर्षक और प्रभावोत्पादक हैं।

भाषा के सम्बन्ध में मलिक मुहम्मद जायसी ने अलग शब्दों में कोई आदर्श व्यक्त नहीं किया, पर जिस भाषा का प्रयोग उनके ग्रन्थों में—विशेष कर पद्मावत में—है, वह सामान्य बोलचाल की अवधी भाषा है। इससे प्रकट है कि वे भी जनसुलभ भाषा में साहित्य-रचना के पक्षपाती थे। उन्होंने केवल यही कहा है कि :—

आदि अन्त जस गाथा अहै। लिखि भाखा चौपाई कहै।"

भाषा से तात्पर्य उसका प्रचलित बोलचाल की भाषा से है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जायसी की दृष्टि से सबल और सजीव कल्पना या रहस्य-दृष्टि, व्यापक सहानुभूति, स्वाभाविक भाषा काव्य के आवश्यक उपकरण हैं जो उसमें विमोहकत्व या 'रमणीयता'

। गुण प्रदान करते हैं। जायसी अनुभूति को मुख्य स्थान देते हैं।
नका काव्य-सम्बन्धी उद्देश्य अनुभूत्यात्मक है, कलात्मक नहीं।
ायसी का सा दृष्टिकोण हमें प्रेमाख्यान लिखने वाले अन्य कवियों
से कुतुबन, मंझन, उसमान आदि की रचनाओं में भी मिलता है।

र का काव्यादर्श

सूरदास की रचनाओं में काव्यादर्श सम्बन्धी कथन अप्राप्य हैं,
र उनके काव्य के अध्ययन से इस बात का पता लगता है कि उनका
द्देश्य, कृष्ण भक्ति में तन्मय होना था। काव्य की सफलता भक्ति के
ावों में मग्न होने में है। रूप और भाव का चित्रण, काव्य का उद्देश्य
और इसके लिए साधन रूप भाषा, अलंकार, गुण, शब्द शक्ति
ादि हैं। अलंकारों और विविध भावों के जुटाने में सूर किसी से पीछे
हीं, यहाँ तक कि 'साहित्य लहरी' में कूट पदों द्वारा उन्होंने चित्र-
ाव्य में भी अपनी दक्षता प्रकट की है। धार्मिक खण्डन मण्डन भी
र का उद्देश्य था, पर काव्य के भीतर तर्क से अधिक भावों का
मावेश है जिससे कि हमारे संस्कार प्रभावित होते हैं, उन्हें केवल
द्धि ही ग्रहण नहीं करती। इस प्रकार से सूर के काव्य में काव्य के
न्तरंग और वहितरंग दोनों की प्रतिष्ठा हुई है।

सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्तकवियों का विशेष श्रेय गीत-काव्य को महत्व
दान करने में है। हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत गीत-काव्य को विशेष प्रेरणा गति
ौर गौरव कृष्ण भक्त कवियों द्वारा ही प्राप्त हुआ है। यह एक तथ्य
जिसके द्वारा हम एक और निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। गीत काव्य को
ारव देकर सूर आदि कवियों के द्वारा दी हुई भाव-पक्ष की महत्ता
ी सिद्ध हो जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि इन कवियों
भाव और रस को काव्य की उत्कृष्टता का तत्व स्वीकृत किया था,
लंकार, रीति या वक्रोक्ति नहीं। ये सब उसी मात्रा में आवश्यक समझे

गये जिस मात्रा में ये भाव के उत्कर्ष में सहायता दे सकते हैं।

सूर की रचना का कलात्मक पक्ष अलंकार आदि के ज्ञान का प्रदर्शन मात्र है, जबकि उनकी यथार्थ वृत्ति भाव में तन्मयता थी। सूर ने भक्ति के वर्णन में वात्सल्य-रस का जो प्रबल श्रोत बहाया है उसमें सभी मग्न हो जाते हैं। वात्सल्य भाव को रसत्व की कोटि में लाने वाली सूर की ही प्रतिभा है।

तुलसी का काव्यादर्श

सूर और कृष्ण भक्त कवियों का आदर्श एक ही था। उन्होंने कविता के द्वारा सामाजिक जीवन का आदर्श अंकित करने की चेष्टा कदापि नहीं की, लोक-वेद-विधि के पालन का आदर्श उन्होंने नहीं अपनाया, पर तुलसीदास की कविता का आदर्श लोक जीवन का कल्याण था, और स्वान्तस्सुखाय की छाप रखती हुई भी उनकी रचनायें परान्त-सुखाय भी कम नहीं। काव्य-सम्बन्धी उनका आदर्श भी था। यह कविता विषयक तुलसी का आदर्श 'रामचरित मानस' में कई स्थलों में व्यक्त हुआ है। तुलसी दास जी काव्य को बहुत ही उच्च और पवित्र वस्तु समझते थे। उनका आदर्श था कि कविता जैसी पवित्र वस्तु का उपयोग ईश्वर के गुणगान में ही करना चाहिए। कविता, वाणी या सरस्वती तुलसी के विचार से देवी है। अपने भक्त या उपासक की आराधना से प्रसन्न होकर वह उसके पास आती है, इसलिये उसकी पूजा और अभिनन्दन के लिए भगवान का गुणगान ही ठीक है, मनुष्य का गुणगान उस शक्ति का दुरुपयोग है। वे कहते हैं :—

"भगत हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।
रामचरित सर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाय न कोटि उपाये।"

इसलिए वाणी का आवाहन केवल भगवान के चरित्र या गुणों के गान

के निमित्त ही करना ठीक है। जन-साधारण के गुणों के गाने से काव्य की देवी असन्तुष्ठ होती हैं—उनका कथन है:—

"कवि कोविद अस हृदय विचारी। गावहिं हरि जस कलिमल हारी।
कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना। सिर धुनि गिरा लगति पछताना।"

यह तुलसी का उद्देश्य धार्मिकता से भरा हुआ है और आधुनिक काव्य के नितान्त विपरीत है जिसमें जन-साधारण ही काव्य का नायक है। दोनों दृष्टिकोणों में कौन सत्य है और कौन असत्य, यह कहना तो कठिन है, पर यह अवश्य मानना पड़ेगा, कि आजकल के अभक्तिपूर्ण युग में यदि कविता-सम्बन्धी तुलसी के आदर्श का पालन किया जाय तो कविता की समाप्ति ही समझिए। पर उनका अपना आदर्श वही है जो आजकल असम्भव है। तुलसी के काव्य का मुख्य ध्येय परमात्मा का गुणगान ही है। और अन्य काव्य के उपकरणों के न होने पर भी तुलसी को यही अकेला गुण संतोष दे सकता जैसा कि बालकाण्ड में व्यक्त है :—

कवि न होउँ नहिं चतुर प्रवीना। सकल कला सब विद्या हीना।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

स्पष्ट है कि कविता-विवेक-प्रदर्शन तुलसी का उद्देश्य नहीं, वे कोरे कागज पर सत्य लिखना चाहते हैं। वे शपथ-पूर्वक यह कहते हैं कि कवित्व के अंगों का ज्ञान हममें नहीं है, पर वे जो कुछ लिखते हैं, वह सत्य का उद्घाटन है! यही बात उनके अन्य दोहार्द्ध "तौफुरि होय, जो कहहुँ सब भाषा भनिति प्रभाव।" से भी प्रकट होती है। उन्हें कुछ संदेश देना है, सत्य कहना है, कोई आंतरिक प्रेरणा है जिसके कारण वे काव्य रचना करते हैं, कवित्व-प्रदर्शन के उद्देश्य से नहीं। "जानकी मंगल" में उन्होंने अपने इस भाव को और भी स्पष्ट लिखा है:—

"कवित रीति नहिं जानौं कवि न कहावौं।
सिय रघुबीर विवाह यथामति गावौं।"

कवित-रीति का उद्देश्य न होते हुए भी, उत्कृष्ट काव्य लिखकर, उन्होंने न जाने कितने कवित-रीति के उपासक और पंडितों की रचनाओं पर धूल डाल दी है। तुलसी की काव्य-निर्माण की प्रेरणा रामभक्ति थी, जिसके वर्णन के लिए ही उन्होंने वाणी का आवाहन किया और वाणी उन पर पूर्ण प्रसन्न भी हुई, इसका प्रमाण आज भी सजीव, उनकी कविता है। अपनी कलात्मक-उद्देश्य-दीनता और भक्ति भाव की व्यापकता का निर्देश उन्होंने 'रामचरित-मानस' के इस दोहे में व्तक्त किया है :—

भनिति मोर सब गुण रहित, विस्व विदित गुण एक।
सो विचारि सुनिहहिं सुमति, जिनके विमल विवेक।"

तुलसी की दृष्टि से जो काव्य को भी परम आभा देता है, और उक्ति चमत्कार और अलंकृति के न होने पर भी काव्य को सरस और बुध-सम्मानित बना देता है, वह गुण, 'भक्ति' है। राम की भक्ति के बिना कविता के विविध अंगोपांगों से परिपूर्ण काव्य भी शोभनीय नहीं। तुलसी के ही शब्दों में ही व्यक्त इस भाव को हम देख सकते हैं :—

भनिति विचित्र सुकवि कृतजोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ।
विधु-बदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना वर नारी॥

भक्ति, कविता-सुन्दरी के लिए वसन और सारी के समान है। आभूषणों से भी अधिक सुन्दरी के शरीर की शोभा और मर्यादा के लिए, वस्त्र या सारी की आवश्यकता है, अतः रामनाम या रामभक्ति की महत्ता भी काव्य में इसी से समझी जा सकती है। तुलसी की दृष्टि से कविता की मर्यादा और सौन्दर्य दोनों के हेतु भक्तिभाव आवश्यक है,

संसार के लोगों की प्रशंसा से न केवल कवि की ही अप्रतिष्ठा होती है, वरन् यह कवित्व-शक्ति का भी घट कर प्रयोग करना है। उनके भाव को स्पष्ट करने के लिए हम उनकी अन्यस्थल पर दी हुई उपमा को लें तो कह सकते हैं कि सोने का उपयोग हलके फाल बनाने के लिए, करना है। अतः अधिकांश काव्य-प्रवाह यद्यपि इस पथ पर प्रवाहित नहीं है फिर भी हम कह सकते हैं कि कवि और काव्य दोनों की उच्च प्रतिष्ठा इस आदर्श से सुरक्षित रहती है।

इसका यह अर्थ कदापि न लेना चाहिए कि तुलसी को 'कवित-विवेक' या काव्यांगों का ज्ञान नहीं था। वे उन्हें केवल भली भाँति समझते ही नहीं थे, वरन् उनपर उनका पूर्ण अधिकार भी था, इसका प्रमाण उनकी रचनायें देती हैं। यों भी उन्होंने काव्य के उपकरणों के रूप में उन विविध अंगों का नाम लिया है, जो काव्य के साधन हैं, साध्य नहीं; और अधिकांश कवि जिनके चक्कर में पड़कर साध्य तक पहुँच ही नहीं पाते। तुलसी ने लिखा है :—

"आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष-गुन विविध प्रकारा॥"

अर्थात् शब्द-अर्थ, अलंकार, छन्द, प्रबन्ध, भाव, रस, इनके भेद तथा दोष-गुण आदि कवित-विवेक हैं इनकी सिद्धि तुलसी का मुख्य उद्देश्य न होते हुए भी इन सभी काव्यांगों से उनकी रचनाएँ भर पूर हैं। उन्होंने इनका उपयोग अपने साध्य, 'रामचरित-चित्रण के लिए किया है। अतः कवित-विवेक उनकी दृष्टि से गौण वस्तु है, प्रधान नहीं।

कविता की उत्पत्ति तथा उसके उपयोग के सम्बन्ध में तुलसी ने एक स्थल पर लिखा है :—

"हृदय-सिन्धु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना।
जो बरसइ वर बारि विचारू। होइ कवित मुकतामनि चारू॥"
जुगुति बेधि पुनि पोहिहहिं, रामचरित वर ताग।
पहिरहिं सज्जन विमल उर, सोभा अति अनुराग॥"

हृदय के भीतर बुद्धि और बुद्धि के भीतर विचार, सरस्वती या वाणी के कृपा से कविता का रूप धारण करता है, पर उसकी शोभा रामचरित के सुन्दर तागे से पुहे जाने में है; बिना उसके वह हृदय पर धारण किये जाने वाले हार का रूप नहीं पासकता है। इसके भीतर तुलसी के आदर्श की दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम तो यह कि वे विचार को काव्यरूप धारण करने के लिए, वाणी की कृपा की आवश्यकता समझते हैं। जो विचार वाणी की विशेषता से सम्पन्न होता है, वही काव्य होता है, अर्थात् वाणी की कृपा के रूप में प्रतिभा या कल्पना या सूझ को वे आवश्यक मानते हैं। दूसरी यह, कि काव्य के उद्गार रामचरित से प्रबन्धरूप सूत्र से गुंथित होने चाहिए। प्रबन्ध-काव्य की विशेष उपयोगिता है, पर इस प्रबन्ध की कथा रामचरित से सम्बन्धित हो।

एक दृष्टि से तुलसी के काव्य का आदर्श सीमित कहा जा सकता है, यदि हम केवल भक्ति-सम्बन्धी काव्य ही अपना लक्ष्य रखें, तो हम अन्य लौकिक और यथार्थवादी काव्य के विविध रूपों का विकास नहीं कर सकते। अतः काव्यशास्त्र की व्यापक दृष्टि से तुलसी का आदर्श समीचीन नहीं है, पर इसका महत्व-तुलसी के काव्यासंबन्धी एक विशेष आदर्श की अभिव्यक्ति में है। तुलसी का काव्य आदर्शात्मक है। आदर्श चरितचित्रण द्वारा उन्होंने विश्व की मानवता का जीवन पथ प्रदर्शन किया है। वे एक पूर्ण और आदर्श विश्व की स्थापना करना चाहते थे, और इसी के लिए उन्होंने आदर्श चरित्र के चित्रण की उपयोगिता

बताई है । सामान्य लौकिक चरित्रों में वह पूर्णता नहीं दिखाई जा सकती, जो ब्रह्म रूप राम के चरित्र में दिखाई जासकती है और इस प्रकार आदर्श चरित को सामने रखकर हम जितना ऊँचा उठ सकते हैं, सामान्य चरित्रों के मनन द्वारा नहीं । काव्य का आदर्शात्मक उद्देश्य, वर्तमान युग के यथार्थवादी लेखकों के द्वारा अभिनंदनीय नहीं । पर एक बात जो इस सम्बन्ध में विचारणीय है, वह यह है कि केवल यथार्थ चित्रण द्वारा हम काव्य-कला के महत्व को कम कर देते हैं । जीवन के यथार्थ रूप की अनुभूति तो हमें नित्य प्रति ही होती है; किन्तु इसके आदर्श रूप की अनुभूति प्रतिमा-सम्पन्न व्यक्ति ही करा सकते हैं । अतः मेरा विचार तो यह है कि जिस प्रकार समाज और देश के अन्तर्गत आदर्श, उच्च एवं महान् चरित्र वाले पुरुषों की, सामान्य मानव, जीवन की गति-विधि के लिए आवश्यकता है, उसी प्रकार प्रतिभा-सम्पन्न लेखकों द्वारा प्रस्तुत आदर्शात्मक काव्य-चरित्रों की भी । आधुनिक युग में अधिकांश विचार-धारा इसके विपरीत बह रही है— इस सम्बन्ध में एक स्मरणीय बात यह भी है कि तुलसी के समान, पूर्ण आदर्श की काव्य में अवतारणा, कोई सहज कार्य भी नहीं । एक आदर्श राजा, आदर्श समाज और आदर्श संस्कृति के चित्रण द्वारा आदर्श जगत की व्यवस्था करना तुलसी का उद्देश्य था । कौन रामराज्य में नहीं रहना चाहता है इसी रामराज्य के आदर्श ने ही तुलसी को काव्य-सम्बन्धी प्रेरणा दी थी, जिसको फिर से स्थापित करने में आज भी हमारे नेता प्रयत्नशील हैं । अतः तुलसी का आदर्श व्यापक-रूप में आज का भी आदर्श है ।

तुलसी कवित्व की प्रतिभा को ईश्वर प्रदत्त ही मानते हैं । उनका विचार है कि यदि देवता प्रसन्न हों तो कवि जो कुछ कहे वह सत्य होता है; सत्य होने का अर्थ विश्वसनीय और प्रभाव पूर्ण होना भी है । वे कहते हैं :—

"सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जो हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहहुँ सब, भाषा भनित प्रभाउ॥"

इस दैवी प्रतिभा की प्राप्ति और विकास के लिए साधना और लगन आवश्यक है।

तुलसी काव्य की उत्तमता और सफलता दो बातों में मानते हैं। प्रथम, बुद्धिमानों के द्वारा उस के आदर में और द्वितीय जनहित में। प्रथम के बिना कविता निकृष्ट है और द्वितीय के बिना कविता व्यर्थ है। उन्होंने लिखा है:—

जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं। सो स्रम बादि बाल कवि करहीं।
कीरति, भनिति, भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।"

अतः दोनों बातें काव्य में देखनी चाहिए। बुद्धिमान लोग उसका आदर भी करें और वह जनता के हित का भी हो। तुलसी के विचार से कीर्ति, यश, और कविता तीनों की उपयोगिता इसी बात में है कि गंगा के समान ये सबका हित करने वाली हों। हित करने वाली कविता वही हो सकती है, जो जीवन का आदर्श अंकित करती हो। तुलसी का अपना काव्य ऐसा ही है। बुद्धिमानों में उसका आदर भी है और वह जन-हित-कारी भी है।

तुलसी के विचार से कविता की शोभा कवि या रचयिता के समीप उतनी नहीं, जितनी सहृदय, विद्वान् और बुधजनों के पास जाकर होती है। मणि, रत्न आदि भी अपनी उत्पत्ति-भूमि में उतनी शोभा नहीं पाते जितनी राजमुकुट या रमणी के शरीर पर। यही कविता की सार्थकता है जिसे तुलसी ने नीचे लिखी पंक्तियों में व्यक्त किया है:—

मणि माणिक मुकता छबि जैसी। अहि गज गिरि सिर सोह न तैसी।

नृप किरीट तरुनी तन पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई।
तैसेहि सुकवि कवित बुधकहहीं। उपजहिं अनत अनत छवि लहहीं॥"

अतः काव्य की सार्थकता विद्वानों के बीच शोभा पाने में है। अब प्रश्न यह है कि विद्वानों के बीच शोभा पाने के लिए उसमें क्या गुण होने चाहिए। तुलसी की दृष्टि से इसमें दो प्रकार की विशेषताएँ होना चाहिए:—प्रथम सुगमता और दूसरी निर्मल कीर्ति का वर्णन। पर ऐसी कविता के लिए कवि की बुद्धि का भी निर्मल होना आवश्यक है:—

सरल कवित कीरतिविमल, सोइ आदरहिं सुजान।
सहज वैर बिसारइ रिपु, जो सुनि करहिं बखान।
सो न होइ बिनु विमल मति, मोहि मति बल अति थोर।

कविता के लिए जिस निर्मल बुद्धि की आवश्यकता है, तुलसी कहते हैं वह उनमें बहुत कम है, इसीलिए वे अपने को कवि नहीं कहते। परन्तु उन्हें साधना और लगन से निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है और उसके उपरान्त वे अपने को कवि कहते भी हैं। यह निर्मल बुद्धि शंभु के प्रसाद से मिली है:—

"शंभु प्रसाद सुमति-हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।"

शङ्कर रामचरित के प्रथम रचयिता हैं (जैसा कि "यत्पूर्वं प्रभुणाकृत सुकविना श्रीशंभुना दुर्गमम्" तथा, रचि महेस निज मानस राखा, आदि पंक्तियों से प्रकट)। अणु अणु में व्याप्त, शङ्कर के भी आराध्य राम की भक्ति ही इन सब गुणों को देने वाली है।

इस भक्ति को, निर्मल यश को, सरल कवित बनाने के लिए सरल

भाषा की भी आवश्यकता है। अतः भाषा-सम्बन्धी तुलसी का विचार, कबीर, विद्यापति आदि की परम्परा को ग्रहण किये हुए है। मुख्य वस्तु उसके भीतर भाव है। भाव की हीनता में भाषा की क्लिष्टता, बोझ ही है। तुलसी ने भाषा को विशेष गौरव नहीं दिया। कोई भी भाषा हो, यदि उसमें सच्ची अनुभूति और प्रेम का वर्णन है, तो वही सुन्दर है :—

"का भाषा का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच॥"

जब लोक-प्रचलित भाषा द्वारा ही आन्तरिक सच्चा भाव, प्रभाव-पूर्वक प्रकाशित किया जा सकता है तब फिर विदेशी या अप्रचलित भाषा के अपनाने का कोई कारण नहीं हो सकता। जिसे लोग समझ न सकें उसमें काव्य लिखना, केवल पांडित्य-प्रदर्शन है, और ऐसा प्रयत्न जन-साधारण के लाभ का भी नहीं।

भक्ति-धारा के गंभीर प्रवाह में मग्न कवियों का भक्ति से ओतप्रोत काव्यादर्श है, पर भक्ति काल में ही कुछ कवि ऐसे भी हैं जो तुलसी के "सरल कवित" वाले सिद्धान्त को नहीं मानते, और आगे चल कर रीति काल में तो संस्कृत काव्यशास्त्र के आधार को लेकर, इस युग का अधिकांश काव्य, काव्यांगों के उदाहरण रूप ही लिखा गया। भक्ति काल में भी कुछ स्वच्छन्द कवियों का कलात्मक उद्देश्य था। 'सेनापति' इसी आदर्श को मानने वाले थे। उनकी दृष्टि में सरल-भाषा काव्य का आदर्श नहीं वरन् गूढ़, बहु अर्थी, कविता ही उनका उद्देश्य है। 'कवित्त रत्नाकर' में उन्होंने लिखा है:—

"मूढ़न की अगम सुगम एक ताको जाकी
तीखन विमल विधि बुद्धि है अथाह की।"

कोई है अभंग कोई पद है सभंग सोधि,
देखे सब अंग सम सुधा पर वाह की।
ज्ञान के निधान छुन्द कोष सावधान,
जाकी रसित सुजान सब करत हैं गाह की।
सेवक सियापति को 'सेनापति' कवि सोइ जाकी,
द्वै अरथ कविताई निरवाह की"

इससे स्पष्ट है कि सेनापति के काव्य का आदर्श तुलसी के आदर्श से भिन्न है। इनका आदर्श केशव की भाँति था, जिन्होंने कि रीति कालीन, लक्षण ग्रन्थों की परम्परा को प्रोत्साहित किया था। उनकी ही भाँति सेनापति भी अर्थ की विलक्षणता, कविता का मुख्य तत्व मानते हैं। सेनापति की दृष्टि में तीक्ष्ण बुद्धि वाले, काव्याभ्यासी पुरुषों की समझ में आने वाली रचना, कविता है, सर्वजन-सुलभ रचना नहीं, इसी कारण 'श्लेष' इसकी कविता की प्रमुख विशेषता है। काव्यांगों को ग्रहण करते हुए, कविता का लक्षण और उसकी व्यापकता के लिए 'रस' की स्थिति को आवश्यक मानते हुए उन्होंने लिखा है:—

दोष सों मलीन गुनहीन कविताई है, तो
कीन्हें, अरबीन परबीन कोई सुनि है।
बिनु ही सिखाये सब सिख हैं, सुमति
जो पै सरस अनूप रस रूप या मैं धुनि हैं।
दूषन को करिबो कवित बिन भूषन को
जो करै, प्रसिद्ध ऐसो कौन सुर मुनि है।
राम अरचतु 'सेनापति' चरचतु दोऊ
कबित रचतु या ते पद चुनि चुनि हैं।

(कबित्त रतनाकर)

दोष-युक्त कविता लाख प्रयत्न पर भी बुधजनों के हृदय में स्थान नहीं

प्राप्त कर सकती और यदि रस या ध्वनि से युक्त कविता है तो सभी की जिह्वा में शोभा पाती है। यह कहते हुए यह स्पष्ट है कि वे दोष रहित गुण-युक्त, रस, ध्वनि अलंकार से पूर्ण कविता को उत्तम कविता मानते हैं। उनका यही विचार और स्पष्ट रूप से निम्नांकित कवित्त में व्यक्त हुआ है:—

राखति न दोषै पोषै पिंगल के लच्छन कौं,
बुध कवि के जो उपकंठहिं बसति है।
जो पै पद मन को हरस उपजावत है,
तजै को कुनरसै जो छन्द सरसति है।
अच्छर है बिसद करत ऊखैं आपुस मैं,
जाते जगती की जड़ताऊ बिनसति है।
मानो छबि ताकी उदवत सविताकी,
सेना पति कवि ताकी कविताई बिलसति है।

उपर्युक्त कथनों से सेनापति के काव्य का आदर्श इस प्रकार प्रकट होता है। कविता दोषों से रहित होनी चाहिए। छन्द और पिंगल के नियमों का पालन उसमें होना चाहिए। वह गुण, अलंकार, रस और ध्वनि से युक्त हो। कविता का एक एक चरण हर्ष और प्रसन्नता को उपजाने वाला हो। अतः इसके आधार पर हम कह सकते हैं, उनका उद्देश्य कलात्मक है काव्य का प्रयोजन मनोरंजन है, लोक कल्याण या जन-हित, व्यापक के अर्थ में नहीं।

रीतिकाल (सं० १७०० से १९०० तक) में जाकर भक्त कवियों का आदर्श एकदम समाप्त होगया और कविता का उद्देश्य 'मनोरंजन' ही रह गया। इस समय रीति या लक्षण-ग्रंथों की भरमार हुई और लगभग सभी कवियों ने काव्य-शास्त्र पर, लक्षण और उदाहरण देते

हुए ग्रन्थ लिखे, जिसका बीज केशव ने बोया था, वह प्रवृत्ति चिन्तामणि के आदर्श और नेतृत्व को अपना कर, खूब पल्लवित हुई। इन ग्रन्थों में व्यक्त काव्यादर्शों का अध्ययन करना प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य नहीं। इनमें जो कविता का रूप है वह रूढ़ि-ग्रस्त है, स्वच्छन्द नहीं। अतः काव्यादर्श सम्बन्धी अपने स्वच्छन्द विचार हमें इस परम्परा में बहुत कम मिलते हैं। भाषा-सम्बन्धी परिष्कार अवश्य इस युग में खूब हुआ, और ब्रजभाषा का बड़ा ही मधुर, विशद, प्रांजल और मनोहारी रूप काव्य में व्यक्त हुआ है। यह ब्रजभाषा उस समय साहित्यिक राष्ट्रभाषा का काम कर रही थी। इस काल में भक्ति काल की भक्ति भावना, काव्य की प्रेरणा नहीं रही, वह अनेक भावों के साथ एक भाव के रूप में अवश्य थी। भक्तिके आलम्बन कृष्ण और राधा, इस युग में शृंगार के आलम्बन के रूप में ग्रहण किए गये और इन पर असंख्य कविताएँ लिखी गईं। भक्तिकी भावना के रूप में, परम्परा बन चुकी थी अतः उसका रूप देखने को मिलता है :—उदाहरणार्थ :—

(१) *मेरि भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।*
जातन की झाँई पड़े, स्याम हरित द्युति होय।"
—बिहारी।

(२) *"जो मैं ऐसो जानतो कि जैहै तू बिषै के सङ्ग,*
ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे। ......,, तोरतो
भारी प्रेम—पाथर नगारो दै गरे मों बाँधि,
राधा बर विरद के बारिधि में बोरतो।"

देव ने यद्यपि रीति-परम्परा के अन्तर्गत शास्त्रीय पद्धति पर अनेक ग्रन्थ लिखे, पर मुक्त रीति से देव की कविता का या कवि का आदर्श

उनकी स्वच्छन्द रचना 'प्रेमचन्द्रिका' के नीचे लिखे छन्द में व्यक्त हुआ है :—

जाके न काम न क्रोध विरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ की छाँहौं।
मोह न जाहि रहै जग बाहिर-मोल जवाहिर ता अति चाहौं।
बानी पुनीत ज्यों देव धनी रस आरद सारद के गुन गाहौं।
सील ससी सविता छविता कविताहि रचै कविताहि सराहौं ।।"

(प्रेम चन्द्रिका)

इससे स्पष्ट है कि देव का काव्य का आदर्श बड़ा ऊँचा था। कवि उनकी दृष्टि में काम, क्रोध, द्वेष, लोभ से मुक्त हो, संसार से विरक्त, मोह-हीन, हो, जिसकी वाणी, रस से भरी हुई हो और गंगा के समान पवित्र हो, जो शोभा और आभा में सूर्य के समान और शील में चन्द्रमा के समान हो ऐसे कवि की कविता, सराहनीय है, क्योंकि देव का विचार है कि वे गुण उसकी कविता में भी होंगे।

पर देव का यह आदर्श अपना है । क्योंकि रीति कालीन काव्य में शील का कोई विशेष महत्व न रह गया था, सौन्दर्य ही प्रमुख था। भक्ति की स्वाभाकि प्रेरणा,काव्यकला की गूढ़ प्रेरणा में परिणत होगई थी शब्द चमत्कार और उक्ति विशेष को ही रीति कालीन लक्षण ग्रन्थों में कविता का आरम्भ समझा गया। इसका इतना प्रभाव था कि परम्परा से स्वच्छन्द कवि भी चमत्कार और गूढ़ार्थ पर जोर देते थे, 'सरल कवित' पर नहीं। उनका उद्देश्य रसिकों के लिये काव्य-निर्माण था, लोक-हित के लिये नहीं। हाँ स्वच्छन्द कवियो और परम्परा-बद्ध कवियों में अन्तर इतना अवश्य कहीं कहीं मिलता है कि स्वच्छन्द कवि 'स्वानुभूति' पर या प्रेमानुभूति पर जोर देते हैं, जो भक्ति कालीन काव्य का प्रभाव है। घनानन्द' (१६८९-१७३९ ई०)

अन्य अनेक गुणों के साथप्रे मानुभूति या प्रेम की पीर को उसी प्रकार महत्त्व देते हैं जैसे जायसी आदि प्रेमाख्यानक-सम्प्रदाय के कवि। पर इतना अन्तर और है कि जहाँ जायसी आदि इसे काव्य की रचना के लिए आवश्यक समझते हैं, वहाँ घनानन्द इसे सहित्य-सेवी, काव्य के अधिकारी या रसिक के लिए भी आवश्यक मानते हैं। वे अपने काव्य के अधिकारी की विशेषताओं का उल्लेख निम्नांकित छन्द में करते हैं:—

"नेही महा व्रज भाषा प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद को जाने।
जोग वियोग की रीति में कोविद, भावना भेद स्वरूप को ठाने।
चाह के रंग में भीज्यो हियौ बिछुरे मिले प्रीतम सोंति न माने।
भाषा प्रवीन सुछन्द सदा रहै सो घन जी थे कवित्त बखाने।

इस प्रकार घनानन्द भाषा-प्रवीणता, काव्यविवेक, सौन्दर्य-परख प्रेम, स्वानुभूति ये काव्य का मर्म समझने के लिए आवश्यक समझते हैं। अतः निश्चय है कि उत्तम कवि की कविता में भी इन गुणों की आवश्यकता वे मानते हैं। घनानन्द काव्य-विवेक को आवश्यक अवश्य मानते हैं, पर सेनापति और केशव की भाँति उसपर जोर नहीं देते। सेनापति जहाँ पर अलंकार, गुण, ध्वनि, श्लेष, दोष-हीनता पर अधिक जोर देते हैं, वहाँ घनानन्द प्रेम की पीर अथवा प्रेमानुभूति पर स्वानुभूति के अनेक रूपों में प्रेमानुभूति एक प्रमुख रूप है अवश्य, पर। प्रेम की पीर काव्य के सम्पूर्ण पक्षों को नहीं समेट पाती। नव रसों में केवल शृङ्गार और उसका भी वियोग पक्ष लेकर चलना अपूर्ण ही कहा जायगा। हाँ, यदि प्रेम अपने विश्व-प्रेम के व्यापक अर्थ में हो, तो दूसरी बात है। इस अर्थ में अवश्य वह, करुणा, क्रोध, हास, उत्साह, आदि सभी भावों को समेट लेता है। पर जैसा आगे के छन्द से प्रगट है उनका उद्देश्य 'वियोगानुभूति' ही है। सेनापति अपनी कविता के

समझने के लिए, तीक्ष्ण बुद्धि आवश्यक समझते हैं, पर घनानन्द 'प्रेम की पीर'। जैसा कि प्रगट है :—

"प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै यहि भाँति की बात छकी।
सुनिकै सब के मन लालच दौरै वे बौरै लखे सब बुद्धि थकी।
जग की कविताई के धोके रहै, ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय, आँखिन प्रेम की पीर तकी।"

यह उनका विशिष्ट काव्यादर्श है जो जग की कविताई से वे विलक्षण बताते हैं अतः यह प्रेम की पीर, अन्य काव्यांगों के साथ होनी चाहिए अथवा अकेले? इस प्रश्न के उत्तर में हमें पूर्व-उद्धृत छन्द द्वारा ही प्रकाश पड़ता है जिसमें वे सौन्दर्य की परख, भेद, और भाव-भेद, भाषा-छन्द आदि का विवेक होना रसिक के लिए आवश्यक बताते हैं, अतः निश्चय है कि कवि के लिए भी इन बातों पर अधिकार अनिवार्य है।

घनान्द का काव्यादर्श रीति कालीन लक्षण कारों से भिन्न पड़ता है। इसमें भक्ति-कालीन और रीति-कालीन प्रमुख आदेशों को समन्वित करने का लक्ष्य है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि आन्तरिक अनुभूति को ही काव्य की मुख्यस्स्फूर्ति मानते थे और उसी के बल पर, अन्य काव्य-गुणों के न रहने पर भी, अपनी वाणी की सफलता समझते थे। रीति-कालीन लक्षणकार कवि शास्त्रीय लक्षणों के उदाहरण रूप काव्य लिखने वाले थे अतः इनमें से लगभग सभी का ध्येय काव्य-विवेक पर जोर देना है। यदि ऐसा न होता तो भूषण, देव, मतिराम दास, पद्माकार आदि उच्च कोटि की स्वच्छन्द कविता लिख सकते थे। पर लक्षण-पद्धति पर चल कर उन्होंने अपनी प्रतिभा को बंधन में डालकर केवल बँधी लीक का अनुसरण किया। अतः निश्चय रूप से काव्य-विवेक को लेकर चलना, उसकी मान्यताओं को काव्य में निभाना चाहे अपनी अनुभूति उससे कुछ भिन्न भी क्यों न हो, उनका लक्ष्य बन गया।

पर घनानन्द, ठाकुर, बोधा, आलम, सीतल आदि कवियों की रचनाओं में अनुभूति का, काव्य-विवेक के साथ साथ महत्व पूर्ण स्थान मिला। इन सभी का काव्यादर्श लगभग घनानन्द का सा ही है। भक्ति-कालीन और इन कवियों में अन्तर यह है कि वे जहाँ ईश्वर के ही प्रेम की अनुभूति को मुख्य मानते थे वहाँ ये लौकिक प्रेम को भी काव्य क्षेत्र में सम्मिलित कर लेते हैं। जायसी ने लिखा है।

" *बिरह के आगि जरै जो कोई। दुःख तेहि कर न अँबिरथा होई।*

पर यह विरह, कबीर का आध्यात्मिक ईश्वर- विरह ही था। पर घनानन्द आदि कवियों की प्रेमानुभूति मुख्ययता लौकिक थी। इसका स्पष्टीकरण ठाकुर कवि के नीचे लिखे काव्यादर्श सम्बन्धी छन्द में हो जाता है। काव्य का लक्षण देते हुए वे कहते हैं :—

> *"मोतिन की सी मनोहर माल,*
> *गुहै तुक अच्छर जोरि बनावै।*
> *'प्रेम को पंथ' कथा हरिनाम की,*
> *बात अनूठी बनाइ सुनावै।*
> *'ठाकुर' सो कवि भावत मोंहि,*
> *जो राजसभा में बड़प्पन पावै।*
> *पंडित और प्रबीनन को जोइ चित्त हरे*
> *सो कवित्त कहावै।"*

अतः अनुभूति की तीव्रता और कलात्मक पटुता दोनों ही जिस में अभिव्यक्त हों, वही उत्तम काव्य है।

काव्य-सम्बन्धी यह आदर्श रीति-काल में ही रह सका और उसका प्रमुख कारण यही था कि अनुभूति को नितान्त व्यक्तिगत और संकुचित बनाने का प्रयत्न किया गया और इन स्वच्छन्द कवियों का आदर्श पूर्ण-

रीति से इस कारण पनप भी न सका क्योंकि लक्षण-ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति का प्रवाह बड़ा ही वेगवान था। इन दोनों की प्रतिक्रिया-स्वरूप भारतेन्दु के उदय काल में आधुनिक भावनाओं की प्रगाढ़ता में लौकिक उपयोगी और व्यापक भावों की अधिक चर्चा प्रारम्भ हुई।

रीति काल में कविता का सम्बन्ध जीवन की प्रगति से टूट गया था। सामाजिक आचार, व्यवहार, लोकजीवन की समस्या और मर्यादा आदि के चित्रण से कवि उदासीन हो गये। लोक-कल्याण कवि का ध्येय न रह गया। रीति-प्रवृत्ति के और सघन होने पर, कला की बारीकी, शब्दों की खिलवाड़ मात्र रह गई और कविता ने भी संकुचित होकर यही रूप धारण किया। नवीन जीवन की ताज़गी उससे तिरोहित हो गई। विषय भी वही रूढ़ि-ग्रस्त थे। मानव-जीवन के मर्म को छूने वाली कविता न रह गयी। कविता, विलास की सामग्री समझी जाने लगी। ये सब बातें कविता को यथार्थ जीवन से दूर खींचती गईं। और धीरे धीरे ऐसी कविता के प्रति सामान्य अरुचि सी जगने लगी अतः बीसवीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारम्भ के साथ साथ जिस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियों ने करवट बदला वैसे ही काव्य के आदर्श भी परिवर्तित हुए। फलस्वरूप आधुनिक काल में हमे काव्यादर्शों में बहुत बड़ा परिवर्तन देखने को मिलता है।

हिन्दी काव्य में राष्ट्रीय भावना

दृष्टिगोचर होता है। वीरों के यशगान और उनकी पूजा की भावना देश में सदा से ही रही है और हमारे साहित्य ने उन्हें सदा ही सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान की है। जब शासक जाति का अत्याचार शासित जाति पर उग्र रूप धारण करने लगा, उस समय इस वीरावाहन के भाव ने प्रेरणा पाई और जातीय भावना का सम्मान हुआ। भूषण का काव्य, जातीय भावना से ओत-प्रोत है, परन्तु उसे हम दोषी इस कारण नहीं ठहरा सकते, कि वह एक अत्याचारी का विरोध करता है, सामान्य-रूप से विजाति के प्रति वैर-भाव प्रकट नहीं करता पर मुख्य भाव वीर यशगान का ही है। सम्पूर्ण रीतिकाल में यदि शृंगार और भक्ति के अतिरिक्त कोई भावना मिलती है तो वीरों या आश्रयदाताओं के यशगान की ही; पर सभी जगह जातीय भावना प्रधान नहीं है, क्योंकि सुखदेव मिश्र, सुरति आदि ऐसे भी कवि थे जिन्होंने मुसलमान शासकों की भी भरपेट प्रशंसा की।

आधुनिक युग के पूर्व राष्ट्रीय भावना के न होने का एक बड़ा कारण सम्पूर्ण देश को एक साथ देखने की सुगमता प्रदान करने के साधनों का अभाव था। बीसवीं शताब्दी विक्रमीय के प्रारम्भ से देश में इस प्रकार की सुविधा होने के साथ-साथ देश-प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना का प्रस्फुरण होता है।

ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाथ में शासन की बागडोर जाने और पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन के बाद विक्टोरिया की घोषणा से राजनीतिक चेतना की लहर फैली और यथार्थ में देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय भावना का सूत्रपात तभी से समझना चाहिए। पर उस समय का देशप्रेम, पिछले वर्षों के देश-प्रेम से भिन्न था जब भारत ने ब्रिटिश शासन को चुनौती देकर, 'भारत छोड़ो' का नारा लगाया था। उस समय देश-प्रेम के साथ-साथ राजभक्ति का रंग गहरा था और अपने देश, जाति और

संस्कृति से प्रेम रखने वाले बड़े-बड़े लोगों के भी राजभक्ति एवं कृतज्ञता-के उद्गार निकलते थे। वह भारतेन्दु युग था और भारतेन्दु की भारत-वीरत्व, विजय बल्लरी, विजयिनी, वैजयन्ती तथा प्रेमघन की आर्याभिनन्दन, भारत बधाई आदि रचनायें इस बात की प्रमाण हैं। 'प्रेम घन' जी ने अपने 'आर्याभिनन्दन' में लिखा है:—

"राजभक्ति इनमें रही, जैसी अकथ अनूप।
वैसी ही तुम आजहू, पैहो पूरब रूप॥
सबै गुनन के पुंज नर, भरे सकल जग माहिं।
राजभक्त भारत सरिस, और ठौर कहुँ नाहिं॥

विक्टोरिया और अंग्रेजी राज्य के प्रति इस प्रकार के भाव आज हमें हास्यास्पद लगते हैं, पर वह समय, यवन शासकों की धार्मिक-अत्याचार-पूर्ण नीति के बाद आया था। अतः उससे लोगों को बड़ा संतोष सा हुआ था, इस कारण ऐसे भाव स्वाभाविक थे। अंग्रेजी शासन की सुविधाओं पर रचित अनेक कवितायें हमें उस युग के साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं। अम्बिकादत्त व्यास की निम्नलिखित पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:—

"गांव—गांव विद्यालय करिकै बहुत विवेक बढ़ायौ।
यान चलाय रेल की तोपें मानों नगर उड़ायौ॥"

अंग्रेजी शासन में सुविधा के लिए कृतज्ञताके साथ-साथ इस अवसर पर देश को जाग्रत कर उन्नति करने का भाव भी उस युग के कवियों में भरा था और वे बराबर देशवासियों को अपने देश के गौरव के प्रति सजग बनाने और उसे फिर से पाने के लिए प्रेरित करने में संलग्न थे। बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' देशवासियों को उन्नति के लिये प्रेरित कर रहे हैं:—

उठो आर्य सन्तान सकल मिलि बस न विलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातंत्र्य समय तुम व्यर्थ न बैठि गंवाओ॥

अतः हम इन कवियों की धारणाओं के साथ कह सकते हैं कि अंग्रेजों के शासन ने धार्मिक उदारता और शिक्षा एवं पारस्परिक सुविधा प्रदान कर हमारे भीतर अपने देश के प्रति कर्तव्य की भावना जगाने में सहायता की और जिसके फलस्वरूप देश-प्रेम की लहर फैली और राष्ट्रीयता की भावना का संचार हुआ।

देश-प्रेम की भावना के अन्तर्गत राजभक्ति का रंग अधिक समय तक नहीं चल पाया। धीरे-धीरे लोगों को इस बात का पता लग गया कि यथार्थ में अंग्रेजी शासक धार्मिक स्वतंत्रता देकर ऊपरी दिखावे में तो यहाँ के लोगों को फुसलाए रखना चाहते हैं, पर यहाँ का धन अपहरण कर वे विदेश में लिए जा रहे हैं। साथ ही साथ इसके पूर्व जो धार्मिक और जातीय भेद का भाव था वह अब काले और गोरे के भेदभाव में परिणत हो रहा है। कवि इस प्रकार का भेद सहन नहीं कर सकता, अतः इस प्रकार के भेदभाव का भी विरोध हुआ। 'प्रेमघन' की नौरोजी दादाभाई पर लिखी गई कविता इसे स्पष्टतया सिद्ध करती है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र की भी 'प्रेस और आर्म्स' ऐक्टों के विरुद्ध भावना इसका प्रमाण है कि अंग्रेजी शासकों की कूटनीति से अभिज्ञ होते ही राजभक्ति स्वदेश भक्ति में पूर्णतया परिणत हो गई। हरिश्चन्द्र ने लिखा है :—

"सबहिं भांति नृप भक्त जे भारतवासी लोग।
शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिन्हहुं की रोक॥"

इस प्रकार के बढ़ते असन्तोष ने ही आगे चल कर विदेश शासन के विरुद्ध एक आन्दोलन का रूप धारण किया और सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय भावना गूंज गई।

राष्ट्रीय भावना के विविध रूप हमें हिन्दी काव्य में देखने को मिलते हैं। सब से पहला रूप है देश-प्रेम से प्रेरित होकर देश का गुण-गान और प्रशंसा। भारत देश और भारतमाता की, प्रशंसा, महत्व और शक्ति पर लिख कर हिन्दी के कवियों ने एक सामान्य एवं व्यापक तथा सुदृढ़ देशप्रेम की भावना उत्पन्न की। भारतेन्दु युग से प्रारम्भ होकर, द्विवेदी युग में विशेष रूप से देश की प्रशंसा और सम्मान के गीत बने। इस दिशा में प्रमुख कवि श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी, सियारामशरण गुप्त, मैथिली शरण गुप्त आदि हैं। पाठक जी का 'जय-जय प्यारा भारत देश' तो बहुत अधिक प्रसिद्धि पा चुका है। इनके 'भारत गीत' भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य, विशालता, गौरवादि पर सचमुच बड़े लुभावने गीत हैं। रामचरित उपाध्याय ने भी भारत की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है :—

"जय-जय भारत पुन्य निधान।
इस त्रिभुवन में अन्य देश क्या है तेरे सम आन।
दुर्गम दुर्ग बने हैं तेरे विंध्य हिमाचल अचल अभी
अविचल खाई है वारिधि की तनिक न होना विकल कभी।"

रामनरेश त्रिपाठी की समस्त रचनाओं में स्वदेश-प्रेम एवं प्रकृति सौन्दर्य की भावना पाई जाती है। उच्च विचार एवं सहृदयता इनका मूल काव्य गुण है। पथिक, स्वप्न आदि में देश-प्रेम में मस्त रहने वाले चरित्रों का चित्रण किया गया है। भारत की प्रशंसा में उनका लिखा निम्नांकित गीत भारत की प्राकृतिक गरिमा का द्योतक है :—

जिसके तीनों ओर महोदधि रत्नाकर है।
उत्तर में हिमराशि रूप सर्वोच्च शिखर है।
जिसमें प्रकृति-विकास रम्य ऋतु-क्रम उत्तम है।

जीव-जंतु फल-फूल शस्य अद्भुत अनुपम है ।
पृथ्वी पर कोई देश भी इसके नहीं समान है ।
इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है ।

बंकिमचन्द्र का 'वन्देमातरम्' और टैगोर का 'जन मन गन' आदि गीत इसी परम्परा में बंगला में लिखे गये ।

राष्ट्रीय भावना का दूसरा रूप हमें प्राचीन गौरव-गान के रूप में देखने को मिलता है। यह दो रूपों में है—एक तो प्राचीन वीरों की देश की समृद्धि तथा सुख की स्मृति करके उपस्थित दुर्दशा के विपरीत घृणा का भाव जाग्रत करने में है और दूसरा प्राचीन संस्कृति एवं जीवन का पूर्ण चित्रण करके अपने भीतर भारतीय होने का स्वाभिमान भरने में । प्रथम प्रकार की भावना भारतेन्दु युग के प्रमुख लेखकों में पाई जाती है। हरिश्चन्द्र, राधाकृष्णदास, प्रताप नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त आदि लेखकों ने देश की दुर्दशा दिखाकर, वीरों को जाग्रत करना चाहा। यहाँ तक कि विवश होकर निरवलम्बता में ईश्वर की ही शरण में जाना और अपनी दुर्दशा दूर करने की प्रार्थना करना उचित समझा। भारतेन्दु जी ने दासत्व की दुर्दशा का क्या ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है :—

"गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई ।
बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई ॥
आलस कायरपनो निरुद्यमता अब छाई,
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लड़ाई ॥

सब विधि नासी भारत प्रजा कहुँ न रह्यो अवलंब अब,
जागो-जागो करुनायतन फेर जागिहौ नाथ कब ?"

—(प्रबोधिनी)

प्रताप नारायण मिश्र का भी विवशतापूर्ण विलाप अन्त में ईश्वर की ही शरण का आश्रय ढूँढता है।

"निज हाथन सर्वस खोय चुके कहँ लौं दुख पै दुख ह्वा भरिये।
हम आरत भारतवासिन पै अब दीनदयाल दया करिये॥"

उस समय की विषम अपमानपूर्ण दासत्व की परिस्थिति प्राचीन गौरव के विपरीत है। हमारा प्राचीन काल का स्वतंत्र-भारत संसार में शिरमौर देश था। इसकी समृद्धि को देखकर विदेशी ललचाते थे, पर इधर आँख उठाकर देखने का किसी को साहस न था। पर अब की दशा दूसरी है। इन दोनों भावों का सम्मिश्रण 'प्रेमघन' की नीचे लिखी कविता में द्रष्टव्य है :—

"रही सकल जग व्यापी भारत राज बड़ाई।
कौन विदेशी राज न जो या हित ललचाई॥
रह्यो न तब तिन में यहि ओर लखन को साहस।
आर्य राज राजेसुर दिग्विजयिन के भय बस॥
पै लखि वीर विहीन भूमि भारत की आरत।
सबै सुलभ समुझ्यो यह कहँ आतुर असि धारत॥"

भारतीय वीरों का सामना करने वाले संसार में नहीं थे। भारतीय संस्कृति सर्वश्रेष्ठ थी, पर अब उनके अभाव में हमारी विषम दशा है। कवि इस दुर्दशा को अपनी आँखों कहां देख सकते हैं। उन्हें दुःख है कि अब न जाने कब वह समृद्धि एवं स्वराज्य की दशा फिर मिलेगी। जिस दिन यह दासता आई उसी दिन हमारे सभी स्मृति-चिन्ह क्यों न मिट जाये, जिससे कि हमें फिर अब उनके लिये मन न मसोसना पड़ता। राधाकृष्णदास ने इस भाव को प्रगट हुए लिखा है :—

कहा परीक्षित कहँ जनमेजय कहँ विक्रम कहँ भोज।
नन्दवन्श कहँ चन्द्रगुप्त कहँ हाय! कहां वह ओज।
काल विवश जो भए नृ पति वे, तो क्यों उनके बालक,
भए न उनके सम काकी अज्ञा उपजे कुल बालक॥
हा कबहूँ वह दिन फिर ह्वैहै, वह समृद्धि वह सोभा,
कै अब तरसि--तरसि मसूसि कै दिन जैहैं सब छोभा।"

आज जब भारत स्वतंत्र है तब वे कवि हमारे बीच से उठ गये हैं। अपने देश को परतंत्र देखकर मन मसूस-मसूस कर रह जाने वाले उन कविओं को कितना उल्लास होता, इसको हम कल्पना भी नहीं कर सकते। आज वे होते तो खुशी से नाच उठते। उनके काव्य का अजस्र प्रवाह रोके न रुकता, वे अपना जीवन धन्य मानते और देश को नवीन बल और नवीन उत्साह से भर देते, क्योंकि उन्होंने देश की शोचनीय दशा अपनी आँखों से देखी थी और उस पर आँसू बहाये थे तथा उसके स्वतंत्र होने की कामना करते-करते जीवन का पर्यवसान कर दिया था। हम उन कवियों को कभी भुला नहीं सकते।

प्राचीन संस्कृति एवं चरित्र-चित्रण की प्रेरणा ने हमारे कवियों को इतना अधिक बल दिया कि अपने इतिहास के धुँधले किन्तु महत्वपूर्ण अंगों पर खूब प्रकाश पड़ा। मैथिली शरण गुप्त जी ने जहाँ भारत-भारती लिख कर घर-घर में राष्ट्रीयता की ज्योति जगाई तथा उद्बोधन की किरणें फैलाकर एक नवीन लहर उत्पन्न की, वहाँ उन्होंने भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का सुन्दर उद्घाटन अपने अनेक ग्रंथों में किया है। हिन्दू-संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले पौराणिक कथाओं से सम्बन्धित इनके ग्रंथ जयद्रथ वध, पंचवटी, त्रिपथगा, बकसंहार, साकेत, द्वापर आदि हैं जिनमें बक-संहार तो अत्याचारियों के दमन की प्रेरणा भरने वाला ग्रंथ है, इसके अतिरिक्त

बौद्ध संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाले अनघ, यशोधरा, कुणाल गीत आदि हैं तथा 'गुरुकुल', सिक्ख संस्कृति से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार प्राचीन संस्कृति की एक झांकी दिखला कर तथा 'भारत-भारती' एवं फुटकर छंदों में देश को जगाकर मैथिलीशरण गुप्त ने राष्ट्रीय कवि का भार सँभाला है और अनेक लेखकों को इस ओर प्रेरित कर साहित्य के माध्यम से स्वतंत्रता की ज्योति जगाई है। इसी प्रकार के राष्ट्रीय गायन में सोहनलाल द्विवेदी जी का प्रयत्न भी सराहनीय है, जिन्होंने अपने अनेक गीतों द्वारा हमारे भीतर की यथार्थ भावना को जाग्रत कर प्रकाशन दिया है, खादी और गांधी जी पर लिखे गये इनके गीत जनता की जिह्वा पर हैं।

दासता का दुर्दशा-चित्रण एवं देश के गौरव-गान की प्रवृत्ति द्विवेदी युग के कवियों की भी प्रधान प्रवृत्ति है और इसको लेकर काव्य लिखने वाले मुख्य कवियों में से राय देवी प्रसाद 'पूर्ण' 'सनेही' लक्ष्मण सिंह गोपालशरण सिंह, रामचरित उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी मैथिलीशरण गुप्त, रूपनारायण पांडेय आदि हैं। इस समय की विशेषता यह है कि राजनीतिक आन्दोलन का प्रभाव व्याप्त हो रहा था अतः इनमें खिन्नता और विवशता की भावना न होकर आशा और उत्साह है। रामचरित उपाध्याय की आशावादी पंक्तियां नीचे देखिये ;—

ज्योंही हुई पतझाड़ त्योंही पत्तियां उगने लगीं।
जग में जहाँ आई शरद सब मेघ मालायें भगीं॥
जो गिर रहा है वह उठेगा, शीघ्र ही या देर में।
तू कर्म का है मानने वाला पड़ा किस फेर में॥
हो जायगा फिर भी समुन्नत सोच कुछ करना नहीं।
वरवीर भारत स्वप्न में भी विघ्न से डरना नहीं॥"

यह दृढ़ता और प्रोत्साहन कवियों की वाणी में इस समय आ गया था और उसका कारण राजनीतिक नेताओं की दृढ़ता और कार्य था। कवियों ने नेताओं के द्वारा दिये गये जागरण के संदेश को घर-घर पहुँचाया और देश-प्रेम की स्थायी भावना उत्पन्न कर उसको सर्वोपरि स्थान दिया, उसी का परिणाम यह हुआ कि समय आने पर स्वतंत्रता के आन्दोलन में जनता का पूरा सहयोग मिला।

प्राचीन संस्कृति-चित्रण का दूर का मार्ग हमारे कवियों ने इ कारण और अपनाया, क्योंकि वे खुल्लमखुल्ला यदि कोई तीखा और जोशीला साहित्य सामने रखते तो शासन उसके प्रकाशन और प्रचार में बाधा डालने के लिये बराबर सचेत था। अतः प्राचीन संस्कृति के चित्रण द्वारा समय की प्रगति का दिग्दर्शन कर संकेत से उनके सुलझाव बताये। प्रसाद जी के नाटक, प्रेमचन्द्र के उपन्यास, गुप्त जी का 'बक-संहार', निराला का शिवाजी के पत्र आदि अनेक रचनायें ऐसी ही हैं। अतः उन्हें इस राष्ट्रीयता के आन्दोलन से अछूते शुद्ध काव्य न समझना चाहिए, बरन् उसी में सहयोग देने वाले, उस महायज्ञ में दूर से लायी हुई आहुति के रूप में ही समझना चाहिए। राष्ट्रीय कविताओं में छायावादी शैली अपनाने का राजनीतिक कारण था। कवि जिस बात को सीधे ढंग से नहीं कह सकता था, उसको अन्योक्ति, रूपक, लक्षणा, व्यंजना, संकेत एव प्रतीकों के सहारे कहता था, क्योंकि सीधे कहने से उसके काव्य और लेखनी पर प्रतिबन्ध लग सकता था। 'फूल की चाह', 'कैदी और कोकिला', 'घट', 'झांसी की रानी', 'वीरों का वसन्त' 'पिंजड़ा का पंछी', 'हिमालय के प्रति', 'बन्दी', 'सर्वहारा' आदि रचनायें बहुत कुछ इसी परिस्थिति में लिखी गई थीं।

राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेने वाले कवियों के अतिरिक्त लेखकों के सामने इस प्रकार की समस्या थी। किन्तु जो इस महायुद्ध में

कूद चुके उनके सामने प्रतिबन्ध का कोई विशेष प्रश्न नहीं, वे तो सभी बन्धनों को तोड़ने चले थे। सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', छैल बिहारी 'कंटक' आदि ने तो स्पष्ट ही क्रान्ति और विप्लव के गीत गाये। नवीन जी का विप्लव गायन "कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल—पुथल मच जाये" तो परम प्रसिद्ध है ही। इसी प्रकार का 'कंटक' जी का प्रसिद्ध "जब रहा बिगुल सज रहे लोग, मिटने मनचले जवान चलो" भी जनो जिह्वा पर नाचता रहा है। इस प्रकार की भावना को स्थायी रखने के लिए अनेक झंडा गायन, खादी-गीत, सत्याग्रह-गीत आदि बने, जिनके रचयिता यद्यपि कवि के रूप में अधिक प्रसिद्ध न थे; पर उनकी रचनायें उनसे सौगुनी प्रसिद्धि पा गईं। आन्दोलन के समय उमड़ी राष्ट्रीयता की लहर में बह कर न जाने कितनों की भावनायें काव्य-प्रवाह के रूप में बह उठीं। सुनकर या कह कर ही हम अपनी भावनाओं को सन्तोष दे सकते हैं। अतः इतनी तीव्रानुभूति के समय कवि कैसे मौन रह सकते हैं। अतः उसके पश्चात् ही एक क्रान्ति की सी उथल—पुथल आई और 'दिनकर', 'अंचल', भगवतीचरण, नरेन्द्र आदि ने भी चौहान, माखनलाल, 'नवीन' आदि के मार्ग को ग्रहण कर विप्लवकारी और उत्साहवर्धक कविताओं को सामने रख कर हमारे साहित्य की दिशा को परिवर्तित किया।

इस समय एक और भावना भी सजग हो रही थी जिसने इस राष्ट्रीयता की भावना में विध्वंस के साथ-साथ सेवा और रचनात्मक कार्य का भी संयोग किया, वह थी दलितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति। गाँधी जी के हरिजन एवं किसान-मजदूरों के उत्थान के आन्दोलन ने इन लेखकों को नवीन मार्ग सुझाया और अधिकांश कवियों ने इस दिशा में प्रस्थान किया। 'सनेही', 'गुप्त', 'निराला', 'पन्त', 'दिनकर', भगवतीचरण, 'अंचल', 'सुमन' तथा अन्य अनेक

कवियों ने इस भावना को लेकर बड़ा सुन्दर लिखा है। किसानों के गौरव को फिर से जगा कर उनके मृतप्राय जीवन को हरा-भरा करने में राजनीतिक नेताओं के साथ साथ ही इन कवियों का भी हाथ था। इस ओर सबसे बड़ा और महत्व का कार्य प्रेमचन्द जी का रहा, जिन्होंने अपने उपन्यासों और कहानियों के द्वारा न केवल साहित्यिकों का ध्यान किसानों, दलितों और पीड़ितों की ओर खींचा, वरन् नगर-निवासियों के हृदय में भी गाँवों के प्रति एक सहानुभूति और अनुराग जाग्रत किया। प्रगतिशील काव्य का बीजारोपण प्रेमचन्द जी ने ही किया है, उनकी इस देन का स्वतंत्र भारत सदा ही ऋणी रहेगा। आज के कवि जो किसानों और मजदूरों के गीत गाते हैं, वे विशेषतः उन्हीं के साहित्य से प्रेरित हैं। 'दिनकर' की पंक्तियों में इस विषय में विशेष बल मिलता है, अतः उनकी दो-चार पंक्तियां नीचे उद्धृत की जाती हैं।

"देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे, हृदय—शोणित की धारें।
और उठी जातीं उन पर ही वैभव की ऊँची दीवारें" ॥
आहें उठीं दीन कृषकों की मजदूरों की तड़प पुकारें ॥
अरी, गरीबों के लोहू पर खड़ी हुई तेरी दीवारें।
वैभव की दीवानी दिल्ली, कृषकमेध की रानी दिल्ली ॥"

—(हुंकार)

पर अब दिल्ली, कृषकों और पीड़ितों की है। अब देश हमारा है। जो कुछ भी भला—बुरा परिणाम है उसके हमी दोषी हैं। आज हमारा देश स्वतंत्र है। ऊपर जो संक्षेप में—राष्ट्रीय भावना का हिन्दी काव्य में विकास का—परिचय दिया गया है वह इस बात का सूचक है कि स्वतंत्रता के युद्ध में हमारे कवि और साहित्यकारों का कम हाथ नहीं है। बड़े-बड़े नेता जिस संदेश को देना चाहते हैं, जनसाधारण तक पहुँचाना और उसको एक स्थायी भाव बना देना, साहित्यकारों,

कवियों और लेखकों का ही काम है। काव्य में राष्ट्रीय भावना के विकास का इतिहास बड़ा विस्तृत है। स्थानाभाव के कारण यहाँ तो केवल संक्षिप्त परिचय ही दिया गया है जिसका मुख्य उद्देश्य प्रथम तो यह है कि हम यह समझने में भूल न करें कि कवि और साहित्य-कारों ने हमारी स्वतंत्रता-प्राप्ति में काफ़ी हाथ बटाया है और द्वितीय यह है कि तब से अब उनका काम बहुत अधिक हो गया है।

अब परिस्थितियां बदल गई हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति का युद्ध तो समाप्त हो गया है, पर स्वतंत्रता के क्षेम का युद्ध अभी चल रहा है। उसकी रक्षा हमें आज भी करनी है। अतः कवियों और लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे अपनी उच्च कल्पना और विशाल हृदयता के बल पर देश की संपूर्ण रचनात्मक शक्तियों को जगा कर, नवीन भारत के निर्माण में पहले से अधिक हाथ बटायें। कवि द्रष्टा होता है। हमारे देश के कवियों ने ही स्वर्ग, नरक, चौदह लोक तथा अनेक अवतारों की सृष्टि की है। हमारे साहित्य के ही एक परम पूज्य कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने उस रामराज्य की कल्पना की थी जिसको स्थापित करने का स्वप्न हम आज भी देख रहे हैं। उस स्वप्न को सच्चा बनाने का दायित्व कवियों और साहित्यकारों के ऊपर है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कवि अभी अपनी नवीन भावना नहीं बना सके। समय और आवश्यकता के अनुकूल मेरा विश्वास है कि कवि-भावना फिर जगेगी और सद्वृत्तियों को प्रोत्साहन देने एवं असत् शक्तियों के संहार में हमारा पूर्ण सहयोग देगी।

तुलसी का राज्यादर्श

४

तुलसी का राज्यादर्श

आज के युग में जीवन की सभी बातें राजनीतिक पृष्ठभूमि पर देखी जाती हैं। शताब्दियों की दासता के कारण, राजनीतिक बन्धनों से मुक्ति हमें राजनीतिक चेतना की महत्ता बता रही है और सभी वस्तुओं को राजनीति के रँग से रँगा हुआ दिखाती है, पर यह दृष्टिकोण और यह भावना भारतीय जन-समूह की सर्वकालिक नहीं हो सकती—न रही थी और न रहेगी ही। राजनीतिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति और रक्षा हमारा उद्देश्य अवश्य है और उसके बिना काम भी नहीं चल सकता, पर देश की स्वतंत्रता की रक्षा जनसाधारण का दैनिक कार्य नहीं हो सकता। इस रक्षा का उत्तरदायित्व कुछ के सिर पर रहेगा,—हाँ, समय पर सभी साथ दे सकते हैं। जो विशाल भारत देश के जनसाधारण के जीवन की गतिविधि इस रूप में नहीं समझते, वे कभी-कभी इस परिस्थिति की उल्टी व्याख्या कर बैठते हैं और कहते हैं कि भारत में राजनीतिक चेतना का अभाव रहा है। यथार्थ में भारतीय राजनीति सदा ही धर्म की अनुगामिनी रही है। 'धर्म' का अर्थ समझने में यदि हम भ्रम न करें, तो हम, समाज को तथा व्यक्ति को धारण करने वाले, विकासात्मक कर्तव्यों को धर्म कह सकते हैं और इस दृष्टि से धर्म बड़ी व्यापक वस्तु है, जिसका हम साम्प्रदायिक अर्थ लगाकर उसका अपमान करते हैं। मानवधर्म शास्त्रों तथा स्मृतियों में मनुष्य का तथा जाति, समाज और व्यक्ति का धर्म बताकर उसके

दैनिक जीवन की व्यवस्था करने का प्रयत्न किया गया है, उस धर्म का हम तिरस्कार नहीं कर सकते। राजनीति भी इसी प्रकार का एक धर्म है, जिसमें राजा और राज्याधिकारी अथवा सचिव, मंत्री, अमात्य आदि एक विशेष प्रकार के नियमों और सिद्धान्तों का पालन करते हैं। अतः यह राज्यधर्म या राजनीति, हमारे देश में व्यापक धर्म का एक अंग मात्र रहा है, सम्पूर्ण धर्म को इसने ग्रस्त नहीं किया। विशेष अवसरों पर अवश्य इसे प्रधानता मिलती रही है—जैसे महाभारत, अथवा गुप्त-काल में।

ऊपर कहे कारण से, राजनीति के साथ-साथ भी धर्म का तिरोभाव नहीं हो सकता, और जनसाधारण अपने व्यापक मानव-धर्म और समाज-धर्म का पालन सदा ही करते रहें, यही सबसे अच्छा है, क्योंकि साधारण व्यक्ति के लिए व्यापक धर्म का पालन करना, आपद्धर्म के पालन करने से सरल है। जब जनसाधारण आपद्धर्म या युद्धधर्म का पालन करने के लिए बाध्य होते हैं, तब समझना चाहिये कि शासन-व्यवस्था, क्षीण और निर्बल है; अन्यथा ऐसा अवसर व्यापक युद्धकाल में ही आता है जब शासक और जनता दोनों उसमें ही व्यवस्थित ढंग से तत्पर होते हैं।

धर्म और समाज, जन और धन की रक्षा के लिए शक्ति की आवश्यकता होती है। तेजस्वी नेताओं की अपनी भी शक्ति होती है, और उनके तेज, प्रताप और शौर्य के साथ जहाँ जनता की शक्ति मिल जाती है, वहाँ विजय निश्चित है। विवेकपूर्ण, दूरदर्शी नेतृत्व के साथ, जहाँ भी विश्वासपूर्वक बल का प्रयोग होता है वहाँ कोई भी हार नहीं सकता। इसी की ओर संकेत करते हुए गीता के अन्त में कहा गया है:—

यत्र योगेश्वरो कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।

तत्र श्रीर्विजयो भतिध्रु वा नीतिर्मतिमम ॥

समस्त राष्ट्र की सेना का प्रतीक अर्जुन हैं और विवेकी संचालक के प्रतीक कृष्ण हैं। राजनीति और राज्यधर्म का यह महत्वपूर्ण तथ्य है।

परन्तु यह राज्यधर्म का युद्ध सम्बन्धी एक पक्ष है, सम्पूर्ण राज्य-धर्म नहीं। सम्पूर्ण राजधर्म केवल विजयों द्वारा ही पालित नहीं होता, वरन् शान्ति, सुव्यवस्था और समृद्धि के द्वारा प्रकट होता है। अतः पूरे राजधर्म के समझने के लिए हमें दोनों पक्ष देखने आवश्यक हैं।

ये दोनों ही पक्ष हमें बड़ी सुन्दरता से महात्मा तुलसीदास द्वारा चित्रित राम के चरित्र में देखने को मिल सकते हैं। तुलसी ने जहाँ पर धर्म और समाज की सुन्दर और आदर्श व्याख्या की है, वहीं पर 'राजधर्म' की ओर भी सुन्दर संकेत किए हैं; और इन संकेतों के द्वार, एक विशिष्ट परवशता के युग में भी उनकी विलक्षण प्रतिभा पर आश्चर्य होता है।

तुलसी का राज्यादर्श 'राम राज्य' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है, परन्तु उस रामराज्य की महत्ता और आवश्यकता बताने के लिए उन्होंने कलियुग का भी चतुराई से चित्रण किया है। रामचरितमानस का कलियुग-चित्रण, तत्कालीन परिस्थित का चित्रण था। यदि उस युग के सम्बन्ध में सीधे ढंग से कोई इतनी आलोचना कर देता, तो उसे राजनीतिक दंड मिलना निश्चित था, परन्तु गोस्वामीजी की चतुराई और प्रबन्ध-कौशल इस बात में है कि स्पष्ट बात कहने पर भी किसी की भी इस प्रकार सोचने की बुद्धि न हुई। अशिक्षित और अयोग्य राजाओं तथा एकांगी राजनीति की आलोचना करते हुये उन्होंने लिखा है:—

"गोड़ गँवार नृपाल कलि यवन महामहिपाल।
साम न दाम न भेद, कलि, केवल दण्ड कराल॥

स्पष्ट है कि उनका संकेत किस कलियुग से था। यथार्थ में उनकी व्याख्या और आलोचना सच्ची थी। यदि कोई भी तुलसी के विचार का राजा होता तो रामराज्य का आदर्श बरता जाना निश्चय था। पर धार्मिक और राजनीतिक कारणों से ऐसा न हो सका।

राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में विवशता होते हुए भी गोस्वामीजी ने समाज को रामराज्य का आदर्श अवश्य प्रदान किया। इसी कारण से उनका "रामचरितमानस" जिस आदर्श राज्य की स्थापना करने में प्रयत्नशील है, वह शील पर प्रमुखतया आधारित है। राजनीतिक दृष्टि से तुलसी के समय में 'कलियुग' की ही व्यवस्था थी, पर समाज में उन्होंने 'रामराज्य' की पूरी व्यवस्था की, जिसका प्रभाव आज भी हमारी ग्राम समाज की अपढ़ अथवा अर्द्धशिक्षित जनता के आदर्श एवं त्यागमय व्यवहारों में देखा जाता है। स्त्री-समाज में आज भी कितनी ही अशिक्षित किन्तु आदर्श मातायें हैं, जो राम के द्वारा स्थापित आदर्श और मर्यादा की पग पग पर रक्षा करती हैं। महात्मा तुलसी-दास स्वयं "रामराज्य" में रहे और सभी को खरे कलियुग के बीच भी 'रामराज्य' की व्यवस्था करने की विधि भी बता गए। उनकी इस प्रकार की सूझ, आजकल की राज्यों में बनती हुई अस्थायी जन-सरकारों की कल्पना से कम महत्त्व नहीं रखती।

तुलसी का कलियुग 'वर्णन' भुशुण्डि—कथा के अन्तर्गत अपना अलग महत्त्व रखता है। उसका वर्णन हमारे सामने न केवल राजराज्य से विषमता ही स्पष्ट करता है, वरन् वह तत्कालीन जन परिस्थिति का

द्योतक है। आज भी हमारी परिस्थिति बहुत कुछ वैसी ही है, उसका एक दृश्य देखिए :—

मारग सोइ जा कँह जो भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा।
मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई।
सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी।
जों कह झूंठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना।

इसी प्रकार अन्य विषम परिस्थितियों का वर्णन है। जनता मूढ़, दुःखी और अधर्मरत है। जनता की यह दुःखदायी दशा, तुलसी का यह विचार है कि राजा या शासक की कुनीति और दुराचारी के कारण होती है। जब शासक अपना धर्म पालन करता है तभी प्रजा भी सुखी, सदाचारी और समृद्ध रहती है। आजकल राजतंत्र समाप्त हो रहे हैं और लोकतंत्रों की स्थापना हो रही है, इसका मुख्य कारण यही है कि राजा की सद्वृत्ति पर प्रजा का विश्वास नहीं है। राजा स्वेच्छाचारी और अत्याचारी होकर बराबर यह प्रमाण देते रहे कि उनके हाथों जनहित सुरक्षित नहीं। पर तुलसी का राज्यादर्श ऐसे राजा या शासक की कल्पना करता है, जिसका व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ है ही नहीं, त्याग ही जिसका व्यवहार है, तथा लोकादर्श और लोकहित जिसका नियम है। राम के विवाह के पश्चात् राजा ने अपनी इच्छा होते हुए भी राम के राजतिलक की स्वयं घोषणा नहीं की, वरन् मंत्रियों और पंचों से पूछकर उनकी इच्छा जाननी चाही।

जो पाँचै मत लागै नीका। करहुँ हरषि हिय रामहि टीका।
मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत-बिरव परेउ जनु पानी।

परन्तु त्यागमय शासक का आदर्श राम में देखने को मिलता है। यह निश्चय जान कर राम प्रसन्नता से नाच नहीं उठे और लोगों को भोज और दावतें नहीं देने लगे, वरन् उन्हें राज्य का भार अकेले अपने

हाथों लेना अनुचित जँचा, वे 'सम्मिलित उत्तरादायित्व' के पक्षपाती थे, क्योंकि वे अच्छी प्रकार जानते थे कि शासक होने का अर्थ चैन और मौज नहीं, त्याग और कार्य है। अतः उन्होंने सोचाः—

जनमें एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लारकाई।
बिमल वंश यह अनुचित एक। बन्धु बिहाय बड़ेहि अभिषेकू।

यदि सभी के हाथ, राज्य का कार्य रहता, और सभी पर राज्य-संचालन का सम्मिलित भार रहता, तो न राम का वनवास ही होता और न इस प्रथा के कारण जो इतिहास में अनेक भाइयों के रक्तपात हुए हैं, वही होते। अतः तुलसी के आदर्श का, राम का तर्क में सुन्दर संकेत उपस्थित है।

राम को सभी चाहते थे, उसका कारण उनका सौन्दर्य और शील था, और राम विजयी होकर एक आदर्श राज्य की स्थापना कर सके, इसका कारण उनकी शक्ति और नीति थी। राम के व्यक्तित्व का पूर्ण प्रकाशन तुलसी द्वारा रामचरितमानस में ही हो पाया है, इसके पूर्व नहीं। अतः राम के आचरण, व्यवहार और नीति में तुलसी की कल्पना और धारणा का प्रमुख हाथ है। राम धर्मशील नीतिकुशल और वीर हैं। धर्मशीलता राजा का प्रमुख गुण है, इसके विपरीत होने पर वह स्वेच्छाचारी हो जाता है, इसी कारण भरत ने राम की प्रशंसा करते हुए राजा का धर्मशील होना एक परमावश्यक गुण बताया हैः—

कहौं साँच सब सुनि पतियाहू। चाहिय धरमशील नरनाहू॥
मोहिं राज हठि देहहु जबहीं। रसा, रसातल जाइहि तबहीं।

इस कथन का निष्कर्ष यह नहीं कि भारत धर्मशील और नीतिज्ञ नहीं, वरन् तात्पर्य यह है कि राजा में यह गुण प्रमुख रूप से होना

चाहिए। राम में यह धर्मशीलता अपनी चरम सीमा में मौजूद है। साधु-सज्जनों की रक्षा करना और आततायियों को दण्ड देना, राम का स्वभाव है। वन में राक्षसों द्वारा खाए हुए ऋषियों की हड्डियों का ढेर देखकर उन्होंने मुनियों से पूछा कि ये हड्डियाँ किसकी हैं, तब मुनियों के उत्तर को सुनकर उनका हृदय करुणा से भर गया। तुलसी ने लिखा है।—

"निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये।"

राम इस प्रकार का अत्याचार नहीं देख सकते थे। निर्दोष, तपस्या-निरत और सद्वृत्त मुनियों पर आततायियों का अनाचार देख कर राम को बड़ा रोष हुआ और उन्होंने इन अत्याचारियों के नाश की प्रतिज्ञा की—

निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्हँ के आश्रमन्हि, जाय जाय सुख दीन्ह॥

यह राम की वीर-भावना है। राजा का, प्रजा पर अत्याचार करने वाले को दंड देना, कर्तव्य है, और राम इस कर्तव्य से कभी विमुख नहीं हुए।

राम की नीति-धर्म-शीलता और वीरता के कारण ही सुग्रीव से मैत्री हुई। बालि का वध और सुग्रीव का फोड़ना, यह राम की सुनीति का परिणाम था। राम धर्मशील तो थे ही, पर नीचों को दंड देना भी वे जानते थे। राम ने समुद्र से विनय-भरी नीति का प्रस्ताव किया पर जब उससे काम न चला तो दंड का भी सहारा लेने में उन्हें किंचिन्मात्र हिचक न हुई।

विनय न मानत जलधि जड़, गये तीन दिन बीति।

बोले राम सकोप तब, बिनु भय होय न प्रीति ॥

राम के चरित्र द्वारा स्पष्ट, नीति के अतिरिक्त तुलसी ने अन्य कथनों में भी राजनीति के सुन्दर सिद्धान्तों का निरूपण किया है। ये विशेष रूप से दोहावली में मिलते हैं। तुलसी का विचार है कि जो यथार्थ में सच्चा, नीतिज्ञ और प्रजा-पालक राजा है, वह ईश्वर के आदेश को समझता है। राजा जैसा करता है वैसी ही प्रजा भी हो जाती है।

अतः बुद्धिमान को विचार कर कार्य करना चाहिए।

काल बिलोकत ईस रुख, भानु काल अनुहारि ।
रबिहिं राउ, राजहिं प्रजा, बुध ब्यवहरहिं बिचारि ॥

राजा के सचिव, मन्त्री और संगी भले होने चाहिए, क्योंकि इनका प्रभाव बुरा और भला राजा पर पड़ता है। तुलसी ने लिखा है—

जथा अमल पावन पवन, पाइ कुसंग सुसंग ।
कहिय कुबास सुबास तिमि, काल महीस प्रसंग ॥

राजा में प्रजा-पालन के स्वाभाविक गुण होने चाहिए, और भला राजा वही है जो प्रत्येक प्रकार से जन-कल्याण और समृद्धि के कार्य करता है, ऐसा राजा प्रजा के भाग्य से ही मिलता है:—

माली भानु किसान सम, नीति निपुन नरपाल ।
प्रजा भाग बस होहिंगे, कबहुँ कबहुँ कलि काल ॥

माली का कार्य है पौधों की काँटछाँट करना, पुराने पत्तों और हानिकारक घासों को काट कर दूर करना, और उनकी सुन्दर और आवश्यक बाढ़ के लिए, रूँधना और पानी से सींचना। राजा का भी कार्य प्रजा के प्रति होता है। वह अपने जनों के बीच उपस्थित दोषों

और बुराइयों को कानून लगा कर दूर करता है, दुष्टों को दंड देता है और सब प्रकार से सुरक्षा और समृद्धि के सामान जुटाता है। सूर्य का कार्य, पौधों को रूप, रंग, प्रकाश और गर्मी देना, जलवृष्टि करना आदि हैं, राजा के लिए भी सभी प्रकार की प्रजा की उन्नति करना कर्तव्य है। इसी प्रकार किसान खेत को जोतता है, बोता है, अन्न उत्पन्नकर सब को खाने को देता है। राजा भी इसी प्रकार से 'अनुपजाऊ' देश को उपजाऊ बनाता है, अरक्षित की रक्षा करता है, और सब के पालन करने का भार ग्रहण करता है। अतः जिस राजा में तीनो प्रकार के गुण हों वह सचमुच दुर्लभ ही है।

इसी प्रकार तुलसी ने राजा को कर लेने के सम्बन्ध में एक सुन्दर सुझावरखा है। वे कहते हैं :—

बरषत, हरषत लोग सब, करषत लखै न कोइ।
तुलसी प्रजा सुभाग ते, भूप भानु सो होइ॥

राजा को कर इतना कम और इस प्रकार से लेना चाहिए कि कर लेते समय किसी को जान न पड़े, पर उसके बदले में जब सुख समृद्धि की वर्षा हो तो सभी देख कर प्रसन्न हों और कहें कि राजा बड़ा दानी और प्रजापालक है। यह शिक्षा हमें सूर्य्य से प्राप्त होती है। सूर्य्य थोड़ा-थोड़ा करके पानी सोखता है। उस समय हमें कुछ भी नहीं जान पता, पर जब वही पानी वर्षा में बरसता है, तो सारा विश्व तृप्त हो जाता है। अतः अनेक बातों में राजा को प्रकृति के व्यापारों के शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

राम के जीवन के रूपक द्वारा तुलसी ने नीचे लिखे दोहे से राजनीति का एक रुचिर तथ्य स्पष्ट किया है :—

भूमि रुचिर रावन सभा, अंगद पद महिपाल।
धरम राम, नय सीय बल, अचल होत सुभ हाल ॥

रावण की सभा में राम और सीता के बल से अंगद ने अपना पद रोपकर रावण के सभी योद्धाओं को ललकार दिया था, पर कोई उनका पद न हटा सका। ऐसे ही धर्म और नीति के बल पर इस पृथ्वी पर राजा अचल रहता है। तुलसी के विचार से राजा को अपनी प्रजा, राज, धन, आदि शांत और त्यागी सचिवों के हाथ सौंपना चाहिए। उपयुक्त सचिवों से ही राज्य की प्रतिष्ठा होती है और स्वार्थी, अनुद्योगी, क्रोधी और विलासी सचिवों से सारा राज्य-काज चौपट हो जाता है। ऐसे ही स्वामी और सेवकों के बीच राज्यानुशासन का भी होना परमावश्यक है। सेवक सदा आज्ञानुसार काम करने वाले हों पर राजा को उनके भरण-पोषण और संवृद्धि का ध्यान रखना चाहिए। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए तुलसी ने लिखा है :—

सेवक कर पद नयन से, मुख सों साहेब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकबि सराहहिं सोइ ॥

मंत्री त्यागी हों; पर साथ ही साथ यह भी आवश्यक है कि वे निर्भय होकर मंगल और अमंगल की बात राजा को बता सकें, तभी राजा और प्रजा का कल्याण सम्भव है। यदि वे राजा के आतंक अथवा भयवश वही बात कहें, जो राजा को प्रिय है, तो राज्य का नाश निश्चित ही है। गोस्वामी जी लिखा है :—

मंत्री, गुरु अरु वैद जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धरम, तन तीनि कर होइ वेग ही नास ॥

अतः मंत्रियों को इस प्रकार की स्वतंत्रता अवश्य होनी चाहिए।

जो राजा या राजसत्ताधारी, राजनीति के इन तत्वों को दृष्टि में न रखकर मनमानी करते हैं, वे अपनी कुनीति के कारण शीघ्र ही विनाश को प्राप्त होते हैं। महात्मा तुलसीदासजी ने स्पष्ट लिखा है :—

कण्टक करि करि परत गिरि, साखा सहस खजूरि।
मरहिं कुनृप करि करि कुनय, सों कुचालि भवभूरि ॥

खजूर की शाखाएँ छाया देने के स्थान में काँटे बिखेरती हैं, तो शीघ्र ही सूख-सूख कर गिर भी जाती हैं, ऐसी ही कुनीति करनेवाले लोगों की भी दशा होती है। अतः राजा को कुनीति से सदा बचना चाहिए। शत्रु के सम्बन्ध में कर्तव्य के विषय में तुलसी ने बड़ी सुन्दर व्याख्या एक उदाहरण द्वारा की है :—

शत्रु सयानो सलिल ज्यों राख सीस रिपु नाउ।
बूड़त लखि, पग डगमगत, चपरि चहूँ दिसि धाउ ॥

शत्रु को सिर पर अर्थात् बराबर समीप रखना चाहिए, जैसे पानी नाव को रखता है; पर जैसे ही उसे निर्बल देखा, उस पर आक्रमण कर, विनष्ट भी कर देना चाहिए। ये सब राजनीति की महत्वपूर्ण बातें हैं। इस प्रकार के अनेकों विचार हमें तुलसी की रचनाओं में मिलते हैं।

राम ने इन अनेक राजनीति के तत्वों का पूर्ण ज्ञान करके तब अपना मार्ग निश्चित किया था जिसमें बल, नीति के साथ साथ धर्म और शील का प्रमुख स्थान था। राजा को सेना, गढ़, रथ, अस्त्र-शस्त्र सम्बन्धी वाह्य सामग्री के अतिरिक्त अन्तरिक गुणों की विशेष आवश्यकता होती है, जो राम के पास थे। विभीषण के चिन्तित होने पर राम ने जिस "विजय रथ" का वर्णन किया है वह इन्हीं आन्तरिक

गुणों का है। वे कहते हैं :—

सुनहु सखा कह कृपा निधाना। जेहि जय होइ सो स्यंदन आना।
सौरज धीरज जेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिज्ञान कठिन को दंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥

अतः विजय के लिए विहिनी, गढ़, अस्त्र शस्त्र आदि पर्याप्त नहीं। शौर्य, धीरता, सत्य शील, बल, विवेक, दम, परोपकार क्षमा दया, बुद्धि, विज्ञान, निर्मल दृढ़ मन, यम, नियम आदि साधु सेवा आवश्यक गुण हैं। इन्हीं से विजयी की शोभा होती है और ऐसा विजयी शत्रुहीन होता है।

राम की अपूर्व शक्ति के साथ इन सब गुणों का समावेश होने के कारण ही उनके राज्य की इतनी महत्ता है। राम का राज्य आदर्श राज्य है। आज हम जब राज्यतंत्र के पूर्ण विरोधी बनते हैं, और प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा शासन चाहते हैं, तब भी हम 'राम राज्य' की ही कल्पना करते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि वह आदर्श राज्य है। राजा भी आदर्श है और प्रजा भी आदर्श है। जिन राम के संचालन में हनुमान से योद्धा, रावण से उसकी लंका में लड़ना अपने जीवन की सफलता मानकर, यह कहें कि :—

"काल करम, दिगपाल, सकल जग जाल जासु करतो।
ता रिपु सों पर भमि रारि रन जीवन-मरन सुफल तो॥"

गीतावली,

उन राम के प्रति प्रजा और सैनिकों का सहज-स्नेह प्रगट हो जाता है। अतः तुलसी का राम राज्य का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं, वह सत्य जान पड़ता है।

राम-राज्य समत्व का राज्य था—

बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

ऊँच-नीच का भेद न था। आज भी हमारा यही उद्देश्य है। वर्णाश्रम तथा अपना-अपना धर्म सभी पालन करते थे, कोई भी भय शोक-रोग-ग्रस्त न था। परस्पर सभी प्रीति करते थे। अल्पायु में मृत्यु नहीं होती थी, कोई पीड़ा और अनाचार न था। कोई निर्धन और दरिद्र न था। वन और उपवनों के वृक्ष समय पर फल फूल देते थे। पशु-पक्षी स्वच्छन्द विहार करते थे। पृथ्वी धन धान्य से परिपूर्ण थी। पहाड़ों में अनेक प्रकार के मणियों और बहुमूल्य पदार्थों की खानें प्रकट हुई थीं, बादल समय पर वृष्टि करते थे। सूर्य उतनी ही गर्मी देता था, जितनी आवश्यक थी। कहने का तात्पर्य यह है कि शासक के पुण्य, धर्म और प्रताप से सभी जनता सब प्रकार सुखी थी। किसी को भी दैहिक, दैविक और भौतिक कष्ट नहीं थे। यह संक्षेप में रामराज्य का रूप और तुलसी का राज्यदर्श है।

यदि हम ध्यान से देखें, तो यही आज कल का हमारा भी राज्यादर्श है। आज बीसवीं शताब्दी में हम राजतंत्र और साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं, उसका कारण यही है कि राजा और राजतंत्र निकम्मे हो चुके हैं, और जनतंत्रात्मक राज्य ही एक मात्र उपाय रह गया है, पर व्यवहार में हमारा उद्देश्य और आदर्श वही है जो तुलसी का था। हम आज भी 'रामराज्य' में रहने के लिये ललकते हैं और उसे अपनी पावन वसुन्धरा पर फिर से स्थापित करना चाहते हैं। जो भी 'रामराज्य'

का मर्म समझते हैं वे चाहे किसी भी धर्म और जाति के क्यों न हों, उसका विरोध नहीं कर सकते, क्योंकि उसमें सब को सच्चा सुख है। हाँ, कपटी, अन्यायी और अत्याचारियों के लिए वह अवश्य दुःखदायी है। अतः यदि हम रामराज्य, अर्थात् सुखकर स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं, तो हमें ऋषिकल्प महात्मा तुलसीदास द्वारा बताए हुए राज-नीतिक तत्वों को भी समझकर व्यवहार में लाना चाहिए। शासक में राम के गुण और प्रजा में उनकी जा के गुण आना आवश्यक है, तभी हम पुनः सुखी और समृद्ध होने का स्वप्न सच्चा कर सकते हैं।

— ——

गांधी जी के राम

५

गांधी जी के राम

हमारे समाज में राम की धारणा सम्बन्धी दो धारायें हैं। एक राम की निर्गुण, निराकार, सम्पूर्ण विश्व के नियन्ता।,

ईश्वर तथा निर्विकार ब्रह्म को लेकर चलती हैं। इसके अन्तर्गत, अयोध्या में जन्म लेने वाले, दशरथ के पुत्र, रामचन्द्र का ब्रह्म राम से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता। केवल नाम-साम्य भर है, जैसा कि आज भी हम बहुतेरे व्यक्तियों का नाम राम या रामचन्द्र-पति है। दूसरी, दशरथ के पुत्र राम को परब्रह्म का अवतार मानती है और उन्हीं को सम्पूर्ण सृष्टि का नियन्ता, ईश्वर कह उनकी उपासना का भाव लेकर चलती है। उनकी राजपुत्र के रूप में जीवन-लीलाएं उसी आनन्दकन्द परमात्मा की लीलाएं हैं, जिनका गान करना, जिनमें तन्मय होना, ईश्वर की आराधना का एक प्रमुख उपाय है। ये दोनों धारायें भारतीय भक्ति की निर्गुण और सगुण भावनाओं से सम्बन्ध रखती हैं और जन-साधारण तक उनका प्रवाह फैलाने वाले, इन धाराओं के अवगाहक दो प्रमुख महात्मा—संत कबीरदास और तुलसीदास हैं। राम के सगुण रूप को वर्तमान समाज-व्यापी रूप देने का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास जी को है, जिनके समान परम आस्तिक व्यक्ति आधुनिक युग में दुर्लभ हैं। कबीर का रूप तर्क-संगत है। वे राम निर्गुण ब्रह्म का नाम मानते हैं और उसका कोई सम्बन्ध अयोध्या में जन्म लेने वाले राम से नहीं मानते। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम कर मरम है आना॥

कबीर किसी भी देहधारी अवतार को परब्रह्म मानने के लिए तैयार नहीं। सम्पूर्ण देहधारी नश्वर हैं, अतः वे ईश्वर नहीं हो सकते। यह नश्वर रूप माया का है—

सन्ती आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहि वाके ना कहुँ गया न आया।

+ + +

दस अवतार ईश्वरी माया कर्ता कै जिन पूजा।
कहै कबीर सुनो हे सन्तो उपजै खपै सो दूजा॥

इस प्रकार कबीर के राम का रूप निर्गुण ब्रह्म का है, अवतारधारी राम का नहीं; फिर भी उन्होंने उसे भक्ति का विषय माना है। पर कबीर की आस्तिकता गोस्वामी जी के समान व्यापक नहीं, जो कहते हैं कि—

सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रणाम जोरि जुग पानी॥

उनकी कल्पना इतनी लचीली है कि वे ईश्वर के लिये सभी कुछ सम्भव मानते हैं। वे अपनी श्रद्धा और कल्पना के बल—बूते आज भी ईश्वर के अवतार पर श्रद्धा और आस्था उत्पन्न करते हैं। उनके रामचरितमानस का मुख्य प्रतिपाद्य है—

जेहि-इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दशरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान॥

उन्होंने निर्गुण ब्रह्म को धर्म की रक्षा, दुर्जनों के संहार एवं भक्त के प्रेम के लिये सगुण और साकार होना सत्य माना है। इसका बड़ा सुन्दर तर्क उन्होंने उपस्थित किया है—

जो गुण रहित सगुण सोई कैसे।
जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।
पुनश्च—*एक दारुगत देखियत एकू।*
पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥

जब हम साधारण प्रकृति के तत्त्वों को निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में देखते हैं तब उस अलौकिक एवं अद्भुत शक्ति रखने वाले के लिए सगुण रूप धारण करना असम्भव क्यों है? अतः तुलसी ने इसे सत्य माना है।

यथार्थ में ईश्वर के सम्बन्ध की सभी बातें श्रद्धा और विश्वास के विषय है, जिनके श्रद्धा और विश्वास नहीं उनके लिये न तो ईश्वर ही है और न उसका अवतार ही। सृष्टि की यथार्थता का ज्ञान तर्क द्वारा केवल सीमा तक ही हो सकता है। उसके बाद विश्वास और श्रद्धा के आधार पर अनुभूति ही की जा सकती है। यही ईश्वर के सम्बन्ध में और भी अधिक सत्य है। गांधी जी ने तर्क और श्रद्धा दोनों के ही आधार पर ईश्वर की, राम की अनुभूति की थी। अतः वे जहाँ पर एक ओर ईश्वर को अगम, अगोचर मानते हैं वहीं दूसरी ओर उसके पूर्ण अवतार पर भी आस्था रखते हैं। 'सर्वोदय' पत्र की जनवरी १९३६ ई० की संख्या में अहिंसा की शक्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है—"पूर्ण सत्याग्रही यानी पूर्ण ईश्वर का अवतार। इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं है कि यह संसार इस तरह का अवतार निर्माण करने की प्रयोगशाला। हमें श्रद्धा रखनी

चाहिये कि हम सब मिलकर अगर अंशरूप से तैयारी करें, तो कभी न कभी पूर्ण अवतार प्रकट अवश्य ही होगा।" गांधी जी की यह आस्था बहुत कुछ गोस्वामी तुलसीदास के समान ही है।

गांधी जी में तुलसी की सी आस्था और विश्वास है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। बचपन में रम्भा नामक दाई द्वारा 'राम' नाम के महत्व का बीज, आगे चल कर, तुलसीकृत रामायण के लाधा महाराजा द्वारा किये गये पाठ और प्रवचन से अंकुरित हुआ स्वयं उनके प्रयोगों से यहाँ तक विकसित और पल्लवित होकर फला-फूला कि अंतिम दिनों में उन्होंने सम्पूर्ण भौतिक रोगों की भी औषधि, राम-नाम को ही मान लिया और उसे अपने अन्तिम बीस वर्ष के जीवन में एक क्षण के लिये भी नहीं भुलाया। इतना ही नहीं, उसका विस्तार यहाँ तक हुआ कि उनके प्रयाण के पश्चात् सम्पूर्ण विश्व एक बार उनके रघुपति राघव राजाराम" मंत्र की ध्वनि से गूँज उठा।

रामचरितमानस का प्रभाव गांधी जी के जीवन पर बहुत गहरा पड़ा था। उन्होंने मुक्त कंठ से तुलसी और उनकी रामायण की प्रशंसा की है। अपनी आत्म-कथा में उन्होंने लिखा है—"आज भी मैं तुलसी दास जी की रामायण को भक्ति-मार्ग का सबसे उत्तम ग्रन्थ मानता हूँ।" इसके साथ ही साथ सन् १६२६ ई० में 'नवजीवन' के सितम्बर अक्टूबर मासों के कई अंकों में इस ग्रन्थ की प्रशंसा की है। उनके कुछ शब्द ये हैं :—

(१) "रामचरित मानस विचार-रत्नों का भांडार है।"

(नव० ५-६-२१)

(२) "रामचरित मानस का यह दावा अवश्य है कि उससे

लाखों मनुष्यों को शान्ति मिली है, जो लोग ईश्वर-विमुख थे, वे ईश्वर के सम्मुख गये हैं और आज भी जा रहे हैं।...मानस का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है। मानस अनुभवजन्य ज्ञान का भंडार है।"

(नव० १०-१०-२९)

(३) "भारत की सभ्यता की रक्षा करने में तुलसीदास जी ने अधिक भाग लिया है तुलसीदास के चेतनामय रामचरितमानस के अभाव में किसानों का जीवन जड़वत और शुष्क बन जाता।.....तुलसीदास की भाषा में जो प्राणप्रद शक्ति है वह दूसरों की भाषा में नहीं पाई जाती।"

(नव० ५-६-२९)

उपर्युक्त कथनों से प्रकट है कि तुलसीदास का प्रभाव उनके जीवन पर कितना पड़ा था! पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने उनकी सभी मान्यताएँ पूर्णरीति से मान ली थीं। यथार्थ में तुलसी और कबीर दोनों की ही धारणाओं ने गांधी जी पर प्रभाव डाला है, पर उन्होंने सम्पूर्णरूप से किसी एक की भी धारणा से सहमत न होकर, अंशतः ही उन पर विश्वास किया है। दशरथ-पुत्र 'राम' ईश्वर नहीं थे, इसका उल्लेख उन्होंने 'यंग इंडिया' में ११ अगस्त, सन् १९२१ ई० के एक लेख में इस प्रकार किया है—

"मैं चाहता हूँ कि भारत इस बात का अनुभव करे कि उसकी अपनी एक आत्मा है, जो नष्ट नहीं की जा सकती और जो समस्त संसार के भौतिक संगठन की अवज्ञा कर सकती है। एक मानव प्राणी राम का, बन्दरों की सेना लेकर दस सिर वाले और समुद्र की गर्जन-वाली लहरों के बीच अपनी लंका को सुरक्षित समझने वाले रावण की उद्धत शक्ति से लोहा लेने का और क्या अभिप्राय हो सकता है।

क्या इसका अर्थ आध्यात्मिक शक्ति द्वारा शरीर-बल की पराजय नहीं है ?"

इससे स्पष्ट है कि गांधी जी रावण को मारने वाले राम को आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न मानव प्राणी ही मानते थे, ब्रह्म का पूर्ण अवतार नहीं।

यथार्थ में राम हमारे सामने दो रूपों में हैं—एक ईश्वरीय, अलौकिक और उपास्य रूप में और दूसरे मानव-मर्यादा की रक्षा करने वाले अनुकरणीय महापुरुष के रूप में। गांधी जी ने इन दोनों रूपों से प्रेरणा प्राप्त की थी और तुलसीदास ने इन दोनों रूपों का एक में समन्वय कर दिया था। गांधी जी राम को एक अवतारी महापुरुष मानते हैं, सम्पूर्ण ब्रह्म नहीं। इसी प्रकार की धारणा उनकी कृष्ण के सम्बन्ध में भी है। 'अनासक्ति योग' की भूमिका में इस सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने कहा है—

"गीता के कृष्ण मूर्तिमान शुद्ध सम्पूर्ण ज्ञान हैं, परन्तु काल्पनिक हैं। यहाँ कृष्ण नाम के अवतारी पुरुष का निषेध नहीं है। केवल सम्पूर्ण कृष्ण काल्पनिक हैं। सम्पूर्णावतार का आरोप पीछे से किया हुआ है।" इसी प्रसंग में अवतार के सम्बन्ध में भी उन्होंने लिखा है—"अवतार से तात्पर्य है शरीरधारी पुरुष विशेष। जीवमात्र ईश्वर का अवतार है, परन्तु लौकिक भाषा में सबको हम अवतार नहीं कहते। जो पुरुष अपने युग में सर्वश्रेष्ठ धर्मवान है उसी को भावी प्रजा अवतार के रूप में पूजती है। इसमें मुझे कोई दोष नहीं जान पड़ता।"

यही बात राम के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। राम अवतारी पुरुष हैं, पर परब्रह्म के सम्पूर्णावतार का आरोप बाद को हुआ है और

रामचरित-मानस का इस प्रकार के आरोप में बहुत बड़ा हाथ है। इस दृष्टि से गांधी जी के परब्रह्म—मोक्षदाता राम—ऐतिहासिक महापुरुष राम से भिन्न हैं। उनके राम अपनी कल्पना के राम हैं और उन्हींकी आराधना करने का उपदेश भी उन्होंने दिया है। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"हमें जिन राम के गुण गाने हैं, वे राम वाल्मीकि के राम नहीं हैं, तुलसीकृत रामायण के राम भी नहीं हैं—गोकि तुलसीदास की रामायण मुझे अत्यन्त प्रिय है और उसे अद्वितीय ग्रन्थ समझता हूँ।... असह्य वेदना से दुःखित आदमी को मैं कहता हूँ कि "राम-नाम' लो। अगर नींद आती हो तो मैं कहता हूँ कि 'लो राम-नाम' किन्तु ये राम तो दसरथ के कुँवर या सीता के पति राम नहीं हैं। ये तो देहधारी राम नहीं हैं।.....ये तो अजन्मा हैं। ये तो पृथ्वी को पैदा करने वाले हैं, संसार के स्वामी हैं। इसलिये स्मरण रखना चाहिए, वे राम हमारी कल्पना के राम हैं, दूसरे की कल्पना के नहीं।"

इस प्रकार व्यक्तिगत कल्पना और श्रद्धा द्वारा ग्राह्य राम का रूप उन्हें मान्य है, पर यह रूप यथार्थतः निर्गुण और निराकार है। निर्गुण निराकार तक सीधे पहुँचना कठिन है, अतः वे सगुण अवतार की भी आवश्यकता और महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं—

"हमारे सामने अगर कोई शंकाएं रख कर हमें फेर में डालना चाहे, तो उसे कहो कि हम किसी देहधारी राम की पूजा नहीं करते, हम तो अपने निरंजन, निराकार राम को पूजते हैं। उनके पास सीधे नहीं पहुँच सकते; इसलिए, जिनमें ईश्वर की मूर्तिमान कल्पना की है उन भजनों को गाते हैं।

इस प्रकार उनका विश्वास था कि प्रत्येक आस्तिक को अपनी फाम ६

कल्पना के ईश्वर का भजन करना चाहिए; क्योंकि वह सभी रूपों में है; पर यथार्थतः उसका कोई एक निश्चित रूप नहीं है।

गांधी जी राम-नाम को ईश्वर का नाम मानते थे; परन्तु उनका यह भी विचार था कि यदि किसी को राम-नाम से घृणा हो, तो वह ईश्वर के अन्य किसी नाम से या अपने रचे नाम से भी उसकी पूजा कर सकता है। इस सम्बन्ध में गांधी जी अधिक-उदार थे। कबीर और तुलसी यद्यपि ईश्वर के अनेक नामों का वर्णन करते हैं, उनका महत्व भी मानते हैं, पर आन्तरिक शुद्धि के लिये, जप के लिए, वे राम-नाम को ही सर्वोत्तम मानते हैं। कबीर की उपासना में घृणा करने वाले साधकों का स्थान नहीं है, पर तुलसी की साधना में कोई भी किसी भाव से 'राम नाम' जप कर आत्मोद्धार कर सकता है—

तुलसी अपने राम कहँ रीझि भजौ के खीज।
उलटो सूधो जामिहै खेत परे को बीज॥

राम चरित मानस में भी उन्होंने 'राम-नाम' को ही महत्ता वर्णित की है। अन्य नामों की नहीं।

गांधी जी का इस सम्बन्ध में उदारता का भाव दूसरे के लिये है, पर स्वयं उनकी श्रद्धा ईश्वर के 'राम' नाम पर ही है। वे उसके विलक्षण प्रभावों से परिचित हैं। 'नवजीवन' में उन्होंने लिखा है—

"राम-नाम के प्रभाव से पत्थर तैरने लगे, राम-नाम के बल से बानर सेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये···राक्षसों के घर अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपने सतीत्व को बचा सकीं।··· इसलिये तुलसीदास ने कहा है कि कलिकाल का मल धो डालने के लिये 'राम-नाम' जपो।

" इस प्रकार प्राकृत और संस्कृत दोनों प्रकार के मनुष्य राम-नाम लेकर पवित्र होते हैं। परन्तु पावन होने के लिये राम-नाम हृदय से लेना चाहिये। जीभ और हृदय को एक रस करके राम-नाम लेना चाहिये। मैं अपना अनुभव सुनाता हूँ। मैं संसार में यदि व्यभिचारी होने से बचा हूँ, तो राम-नाम की बदौलत, मैंने दावे तो बड़े-बड़े किये हैं, परन्तु यदि मेरे पास राम-नाम न होता तो स्त्रियों को बहिन कहने के लायक न रहा होता। जब-जब मुझ पर विकट प्रसंग आये हैं, मैंने राम-नाम लिया है और मैं बच गया हूँ। अनेक संकटों से राम-नाम ने मेरी रक्षा की है।

(नव० ३०-४-२५)

ऊपर के कथन से स्पष्ट है कि भक्तों ने जो शक्ति राम-नाम की मानी है, गाधी जी को उसके बारे कोई भी संदेह नहीं था। प्रत्येक प्रकार के संकट में ' राम-नाम' का ही सहारा यथार्थ सहारा है। वे विश्वास करते थे कि चाहे कितना कठिन सेवा-कार्य हो 'राम-नाम' या भक्ति बन्द नहीं हो सकती, उसका रूप बदल सकता है। माला छूट जाने पर हृदयस्थ राम-नाम नहीं छूटना चाहिये। यह उनका विश्वास कबीर के समान ही था, जो यथार्थ जप में माला की आवश्यकता ही नहीं मानते।

कबिरा माला काठ की बहुत जतन का फेर।
माला स्वास उसास की जामें गांठ न मेर ॥

गांधी जी ईश्वर में पूर्ण विश्वास रखने वाले व्यक्ति थे। उसकी भक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य मानते थे। पर वह भक्ति केवल जप करने में ही सीमित नहीं, वरन् अपने भीतर ईश्वर की सत्ता की अनुभूति के साथ-ही-साथ लोक-सेवा को भी समेटे थी। ईश्वर भाव रूप है, वह अगम, अगोचर, सर्वव्यापी, निराकार, अभेद और अजन्मा है। वह

ये वाक्य सिद्ध करते हैं कि जिस शक्ति को वे सर्वत्र व्याप्त देखते हैं वह इसी सत्य-रूप ईश्वर की शक्ति है । सत्य की आराधना भक्ति है, जिसके लिए अहिंसा और प्रेम आवश्यक है ।

अतः स्पष्ट है कि पूर्वकालीन भक्तों और सन्तों की ईश्वर-सम्बन्धी धारणा से गांधी जी की धारणा में विकास देखने को मिलता है । अपने प्रयोगों तथा व्याख्याओं में उन्होंने ईश्वर के स्वरूप को इस युग के लिये भी ग्राह्य बना दिया है, यह उनकी सबसे बड़ी देन है । इतना होते हुए भी हमें यही कहना पड़ता है कि ईश्वर है श्रद्धा और विश्वास की ही वस्तु । जिस ईश्वर को गांधी जी ने तर्क से पहिचाना, श्रद्धा और विश्वास से ग्रहण कर अहिंसा और प्रेम से विकसित किया, उसी ईश्वर का आत्म परिष्कृति एवं भक्ति की दृष्टि से सब से सुन्दर, भावोत्पादक, कल्याणकारी, प्रामाणिक, ललित एवं सुगम नाम है— "राम"

———

जीवन में साहित्य की आवश्यकता

६

जीवन में साहित्य की आवश्यकता

आजकल हमारे सामने यह प्रमुख समस्या है कि जीवन में साहित्य की क्या आवश्यकता है ? क्या साहित्य हमारे जीवन के लिये अनिवार्य अथवा आवश्यक है ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि साहित्य जीवन में उस प्रकार चाहे अनिवार्य न हो जिस प्रकार भोजन और वस्त्र हैं, पर इसकी आवश्यकता जीवन में बहुत गहरी है। इसकी आवश्यकता का अनुमान कुछ कुछ हम कर सकते हैं यदि हम कल्पना करें कि हमारे युग का सभी साहित्य लुप्त हो गया है, और केवल शास्त्र या विज्ञान सम्बन्धी वाङ्मय ही शेषरह गया है। हमें तुरन्त ही स्पष्ट हो जाता है कि हमारा जीवन नीरस हो जायेगा, उसमें कोई आनन्द नहीं रह जायेगा। विज्ञान हमारी बुद्धि का विकास करता है, हमें नवीन नवीन शक्तियों से सम्पन्न करता है, पर यह बुद्धि और शक्तियाँ बिल्कुल ही व्यर्थ हैं यदि हमारे हृदय का विकास नहीं हो पाया है। हृदय के विकास और बुद्धि के परिष्कार तथा दोनों के सामंजस्य के लिये साहित्य की जीवन में बड़ी आवश्यकता है।

साहित्य हमारी अनुभूतियों का परिष्कार करता है। साहित्य सेवन से हमारा मन परिष्कृत और हृदय उदार हो जाता है। साहित्य के और विशेष रूप से काव्य के सेवन के लिये यह आवश्यक है कि हमारे भीतर 'सत्वोद्रेक' हो अर्थात् सतोगुण जाग्रत हो और इस दशा में ही हम काव्य का आनन्द उठा सकते हैं। काव्य या साहित्य का प्रायः आनन्द

लेने के लिए हमें सतोगुणात्मक वृत्तियों में रमने का अभ्यास हो जाता है। सतोगुण प्रकाश-सम्पन्न है अतः हमारे मन का परिष्कार और हृदय का विकास होता है। साहित्य सेवन से मनुष्य की भावनायें कोमल बनती हैं। उसके भीतर मनुष्यता का विकास होता है, शिष्टता और सभ्यता आती है जिससे दूसरों के साथ व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त होती है। अतः साहित्य का जीवन में महत्व स्पष्ट है।

संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्य 'मम्मट' ने अपने काव्य प्रकाश में काव्य के प्रयोजन लिखते हुये कहा है :—

काव्यं यशसेऽर्थकरे व्यवहार विदे शिवेतरक्षत ये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेश युजे ॥

जिसका अर्थ है कि काव्य का प्रयोजन है यश, धन, व्यवहार, कुशलता, अमंगल से रक्षा, आनन्द और कान्ता के समान मधुर उपदेश। ये छः प्रयोजन जीवन के भी सुन्दर प्रयोजन हैं। जीवन में हमें यश की आकांक्षा रहती है धन तो हम चाहते ही हैं; व्यवहार कुशलता की भी तो नित्य ही आवश्यकता रहती है और अमंगल से रक्षा होनी ही चाहिये। मधुर उपदेश का कितना प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ता है यह किसी से छिपा नहीं। जब अनेक नीति शास्त्र के सीधे वाक्य और ताड़ना भय से भरे वचन हमें समझाने में समर्थ नहीं होते, तब भी मधुरता और कोमलता से भरी वाणी हमें वश में कर लेती है और जो चाहती है वही करा सकती है।

कहा भी गया है :—

तुलसी मीठे बचन से, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मंत्र है, परिहरु वचन कठोर ।।
कागा काको धन हरै, कोयल काको देय।

मीठे वचन सुनायके, सबको वश करि लेय ॥

अतः इस काव्य या साहित्य में प्राप्त मधुर उपदेश का बड़ा प्रभाव पड़ता है। केशव के एक छन्द ने वीरबल को प्रसन्न किया और उन्होंने अकबर से राजा इन्द्रजीत सिंह पर किया हुआ जुर्माना माफ़ कराया। पृथ्वीराज के साहित्यिक पत्र ने महाराणा प्रताप को अकबर से फिर युद्ध करने को प्रेरित किया।

बिहारी के एक दोहे

नहिं पराग नहिं मधुरमधु नहिं विकाश यहि काल।
अली कली ही सो विंध्यौं, आगे कौन हवाल।

ने महाराजा जयसिंह का जीवन परिवर्तन कर दिया। यह सब साहित्य की ही करामात है।

साहित्य की मधुर और कोमल वाणी जैसा बेधती है वैसे बाण भी नहीं। अतः जीवन में साहित्य के प्रयोजन-सिद्धि की कितनी आवश्यकता है।

अन्तिम प्रयोजन है "आनन्द"। आनन्द कौन नहीं चाहता साहित्य पढ़ते ही हम आत्म विभोर हो जाते हैं। और जिस प्रकार के आनन्द में मग्न होते हैं वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह आनन्द "ब्रह्मानन्द सहोदर" कहा गया है। वह अलौकिक आनन्द है। उसका एक कणमात्र भी स्पृहणीय है। जिसे यह आनन्द प्राप्त होता है वह धन्य हैं। जीवन का आध्यात्मिक विकास करने के लिये भी इस प्रकार के आनन्द की अपेक्षा हैं।

तो इस प्रकार हमने देखा कि जीवन के वाह्य और आभ्यान्तर

दोनों रूपों में साहित्य की परमावाश्यकता है। बाह्य या लौकिक जीवन को सुगम और सुखकर बनाने के लिये हमें यश, धन, व्यवहार कुशलता और अनिष्ट नाश की कितनी आवश्यकता रहती है, यह किसी से छिपा नहीं है। और हमारे आभ्यान्तर जीवन को प्रभावित करने के लिये हमें मधुर उपदेश चाहिये और उसके पूर्ण विकास के लिये तन्मयता और आनन्द। अतः सिद्ध है कि जीवन पूर्णता की ओर ले जाने के लिये और उसको सुन्दर मधुर, सरस और व्यापक बनाने के लिये साहित्य अनिवार्य है।

साहित्य हमारे जीवन को आदर्श प्रदान करता है। बड़े बड़े मनीषियों ने जीवन सम्बन्धी जो सत्य अपनी सहज अनुभूति से खोजे हैं, वे हमें साहित्य में सुरक्षित मिलते हैं। तुलसीदास का "राम-राज्य' और राम का आदर्श कितना आकर्षक है सभी उस आदर्श क अपनाना चाहते हैं और ऐसा ही है 'सूर' का ब्रज। कौन सूर की कल्पित-ब्रजभूमि (जो साकेत धाम है) में नहीं जाना चाहता। यह आदर्श साहित्य द्वारा पूर्ण और पुष्ट रूप में आता है, अतः हमें उसे अपनाने की ललक होती है। इसके अतिरिक्त साहित्य हमें विकलता और किंकर्तव्य-विमूढ़ता के अवसर पर लौकिक निराशा-मय जीवन से दूर भी ले जाता है। इस प्रकार साहित्य हमारा माता के समान पालन करता है। पिता के समान हमारी और रक्षा वृद्धि करता है, गुरु के समान शिक्षा देता है, सुहृद के समान मार्ग दिखाता है, और स्त्री के समान मधुर स्नेह की साकार मूर्ति बनकर आता है। इसके साथ ही साथ पूर्ण नैराश्य में आशा प्रदान करता है। ऐसे साहित्य का जीवन से अटूट सम्बन्ध है। यथार्थ में साहित्य ही हमारे सच्चे जीवन की कला को बताता है। अतः हमारे जीवन में उसका महत्व शाश्वत है।

हिन्दी काव्य में चरम शील और चरम सौन्दर्य का चित्रण

७

हिन्दी काव्य में चरम शील और चरम सौन्दर्य का चित्रण

हिन्दी काव्य की भक्ति-भावधारा की सब से बड़ी देन यह है कि उसने हमारे सामने चरम सौन्दर्य और चरम शील का आदर्श उपस्थित किया है, जिसे कि कला और कविता की बड़ी महत्वपूर्ण सफलता कहना चाहिये। जिस स्थल पर हम कला के साथ कल्याण का समावेश पाते हैं वहीं पर हमें मानव जीवन का ध्येय पूरा होता मिलता है। हमारी भावनायें परिष्कृत हो अचानक एक ऐसे आनन्द का अनुभव करती हैं जो कि जीवन में एक बार भी स्पृहणीय है और जिससे अधिकांश व्यक्ति वंचित रहते है। चाहे हम उसके अन्तर्गत सत्य और सौन्दर्य का समन्वय देखें चाहे शील और सौन्दर्य का, वह आदर्श, मानव जीवन के लिये एक बहुत बड़ी देन है।

तुलसी, सूर, जायसी, कबीर आदि भक्त कवियों ने सौन्दर्य और कल्याण के अन्तर्गत एक चरम सत्य को व्याप्त देखा था। उस सत्य को इन्होंने अपने अपने प्रयास में सौन्दर्य तथा शीलयुक्त स्वरूप दिया है। इनकी कविता में सत्य की शील और सौन्दर्यमय अनुभूति का आनन्द छिपा है जोकि इनकी कविता की उत्कृष्टता का रहस्य है। कबीर का उद्देश्य कवि बनना कभी नहीं था; क्योंकि उन्होंने देखा था कि बहुतेरे "कवि" उपाधिधारी व्यक्ति यथार्थ सत्य से दूर रहते हैं। इतना होने पर भी कबीर कवि हैं क्योंकि जो कल्पना की

ग्रहण करने वाली शक्ति कविता के लिये आवश्यक है वह कबीर में है। वह सौन्दर्य से अधिक कल्याणकारी सत्य के पुजारी थे अतः उनमें चिन्तन और तर्क अधिक है, तन्मयता और सौन्दर्यानुभूति कम। किन्तु तुलसी, सूर और जायसी चरम सौन्दर्य और चरम कल्याण के पुजारी थे अतः उनके अन्तर्गत चरमशील और चरम सौन्दर्य की प्रभावशाली अभिव्यक्ति मिलती है।

काव्य का उद्देश्य केवल भपके से खींचा हुआ सार-मात्र देना नहीं है वरन् उस वस्तु को ही देना है जिससे तथ्य निकलता है और तथ्य की व्याप्ति की ओर संकेत करता है। कवि का उद्देश्य सत्य को अपने पूर्ण सुन्दर रूप में सुरक्षित रखना है। गुलाब का फूल न देकर कवि कटीली झाड़ी, हरी और विलक्षण कला से कटी हुई पत्तियों के बीच, शिशु के कपोल की ललाई के समान अरुणिम गुलाब के फूल का एवं उसके अन्तर्गत मनोहारी सौरभ का चित्रण करता है। आदर्शवादी कवि उसके कांटों को छोड़कर सौन्दर्य और सौरभ का ही चित्रण करेंगे। यह प्रयत्न हमें तुलसी, सूर और जायसी के काव्य में मिलता हैं। तुलसी और सूर सगुण रूपके उपासक थे, राम और कृष्ण की भक्तिके बीच उन्होंने जीवन के तथ्यों का अनुसंधान किया है। राम और कृष्ण को उन्होंने पूर्ण परमात्मा का अवतार माना है। अतएव उन्होंने उनके अन्तर्गत चरमशील और चरम सौन्दर्य की ही प्रतिष्ठा की है जो वैष्णव भक्ति भावना के सर्वथा अनुकूल है।

जायसी का पक्ष दूसरा है। यद्यपि जायसी की भावना वैसी ही है सत्य का अनुसंधान और निष्कर्ष भी वैसी ही है, कल्पना भी उसी ढंग की है, पर जायसी अवतारवाद के विश्वासी नहीं हैं। अतएव ईश्वर के विषय में उन्हें अपने चरित्रों को हटा देना पड़ा है। इस प्रकार उनके काव्य का उतना अखंड और घना प्रभाव नहीं पड़ता। जायसी ने चरम सौन्दर्य और शक्ति का वर्णन करने का

चरित्र चुना है। पद्मावतीं को ईश्वर का प्रतीक माना है, किन्तु सर्वत्र नहीं। अतः हमारी भक्ति भावना उधर प्रेरित नहीं हो पाती और वह एक प्रेमाख्यान ही रहता है अलौकिक चरित्र चित्रण नहीं और तब हम अनुभव करते हैं कि जायसी का वर्णन अतिशयोक्ति पूर्ण है क्योंकि असीम सत्ता का सम्बन्ध उसमें पूर्णरूप से प्रतिष्ठित नहीं हो सका है। परन्तु यथार्थ यह है कि जायसी के चरित्र केवल साधन मात्र हैं प्रतीक रूप हैं वे प्रायः अपनी कहानी में प्रतिष्ठित नायक नायिका के वर्णन-प्रसंग के बीच बीच असीम सौन्दर्य और असीम शक्ति की ओर संकेत करते हैं। वे असीम सौन्दर्य के ही भक्त और असीम शक्ति के ही उपासक हैं किन्तु ये गुण वह निश्चित व्यक्तित्व में नहीं बाँध देते और साथ ही साथ विश्व में बिखरे सौन्दर्य-खण्डों एवं शक्ति- प्रतीकों में उसका दर्शन करना भी नहीं भूलते। वे मूलतः "रहस्यवादी हैं, फिर भी प्रतिष्ठित चित्रों के अन्तर्गत जो असीम सौन्दर्य व शक्ति के संकेत हैं वे उनकी चरम सौन्दर्य और अलौकिकशील की धारणा को स्पष्ट करते हैं।

चरम सौन्दर्य की कल्पना जायसी ने पद्मावती के रूप में की है जो कि सूफियों की परमात्म कल्पना के समान है। नखशिख छबि वर्णन जायसी ने किया है किन्तु चरम सौन्दर्य का आदर्श उनके अन्तर्गत स्थान स्थान पर मिलता है। नीचे की कुछ पक्तियाँ इसके उदाहरण हैं—

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकुलाई।
ससिमुख अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।
ओनई घटा पारी जब छाँहा। ससिकै सरन लीन्ह जनु राहा।
भलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चन्द्र दिखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौहें धनुख गगन लेहु राखीं।
नैन खंजन दुहि केलि करेई। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं।

यहां तक वर्णन तो परम्परागत उपमानों के रूप में है किन्तु इसके अनन्तर चरम सौन्दर्य का, प्रभाव-द्वारा व्यंग से प्रकाशन है। उसके रूप को देखकर—

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहिं लेइ।
पांव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं लेइ॥

इसके पश्चात ही वे आगे कहते हैं कि जो सौन्दर्य और प्रभाव मानसर का है वह उसी चरम सौन्दर्यशालिनी के कारण है और यह सब उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है।

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहां लगि आई।
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप रूप के दरसे।
मलय समीर बास तन आई। भा शीतल गै तपनि बुझाई।
ना जानौ कौन पुन्य लै आवा। पुन्य दसा मैं पाप गंवावा।
नयन जो देखा कमल भा, निरमल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर।

पापों का दूर होना चरम शीलता के कारण है। इसके अन्तर्गत व्यंग्य रूप से यह भी अभिप्रेत है कि जो कुछ प्रकृति का सौन्दर्य और मनुष्य की स्वभावगत शीलता है वह उसी चरम सौन्दर्य और चरम-शीलता का ही अंग मात्र है, प्रतिबिम्ब भर है।

सर्व शक्तिमान, जो चरम सौन्दर्यमय है, सर्वकल्याणमय भी है, शक्ति के स्वत्व में वह स्वेच्छाचारी है जैसा कि इस्लाम ईश्वर को मानता है। जायसी कहते भी हैं:—

"जो चाहा सो कीन्हेसि कर जो चाहा कीन्ह।
बरजन हार न कोई सबै चाह जिउ दीन॥"

और फिर—

कीन्हेसि कोई निभरोसी, कीन्हेसि कोई बरियार।
छारहि ते सब कीन्हेसि; पुनि कीन्हेसि सब छार॥

उसका कल्याण मय स्वरूप देखिये। स्वेच्छाचारी शक्ति प्रयोग के साथ साथ भी हम लोग उसे शीलवान ही कहेंगे :—

धनपति उहै जेहिक संसारू। सबै देत नित घटन भंडारू॥
जानत जगत हरितन औ चाँटा। सब कँह भुगुति रात-दिन बाँटा॥
ताकर दीठि जो सब उपराहीं। मित्र सत्रु कोउ बिसरै नाहीं॥
पंखि पतंग न बिसरै कोई। परगट गुपुत जहां लगि होई।
भोग भुगुति बहु भांति उपाई। सबै खवाय आपु नहिं खाई॥
ताकर उन्है जो खाना पियना। सब कंह देइ भुगुति औ जियना।
सबै आसहर ताकर आसा। वह न काहु के आस निरासा॥

जुग-जुग देत घटा नहिं, उभै हाथ अस कीन्ह।
और जो दीन्हा जगत महँ, सो सब ताकर दीन्ह॥

इस प्रकार जायसी ने चरम सौन्दर्य और चरम शील का चित्रण किया है। जायसी का यह चित्रण निराकार को लेकर है। अतः तुलसी और सूर के चरम सौन्दर्य व चरमशील के चित्रणों से भिन्न है। चरम सौन्दर्य और चरमशीलता राम और कृष्ण की विशेषताएँ हैं। सूर और तुलसी रहस्यवादी नहीं हैं। अतः परमात्मा का सौन्दर्य, प्रकृति और मनुष्य के सौन्दर्य से भिन्न मानते हैं। उसका अलौकिक सौन्दर्य और शील सब को मोह सकता है। चरम-सौन्दर्य कल्पना का विषय है

और वर्णन के बीच उसका आभास प्राप्त किया जा सकता है। तुलसी ने असीम सौन्दर्य के वर्णन का बड़ा ही सफल प्रयत्न किया है। चरम सौन्दर्य की झाँकी राम लक्ष्मण के रूप में देखिये :—

सोभा सील सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा।
मोर पंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच-बिच कुसुम कली के।
भाल तिलक श्रम-बिन्दु सुहाए। श्रवन सुभग भूषण छवि छाए।
विकट भृकुटि कच घूँघर बारे। नव सरोज लोचन रतनारे।
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास विलास लेत जनु मोला।
मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो विलोकि बहु काम लजाहीं।

तुलसी ने सुन्दर से सुन्दर उपमानों को खोज कर राम की शोभा का वर्णन किया है और इन अनेक उपमानों से युक्त सौन्दर्य-वर्णन के साथ जो प्रभाव का निर्देश है उससे चरम सौन्दर्य की व्यंजना होती है। गीतावली में देखिए राम के सौन्दर्य का क्या प्रभाव है :—

राम लखन जब दृष्टि परे री।
अवलोकत सब लोग जनकपुर मनहु विधि विविध विदेह करे री।"

इसी भाँति :-

" नेकु सुमुखि, चितलाइ चितौ री।
राज कुँवर मूरत रचिबे की रुचि सु विरंचि श्रम कियो है कितौ री।
नख सिख सुन्दरता अवलोकत कह्यो न परत सुख होत जतौरी।
सांवर रूप सुधा भरिबे कँह, नयन कमल कल कलस रितौ री॥ ८

इत्यादि

उस सौन्दर्य का प्रभाव देखिये :—

जब ते राम लखन चितए री ।
रहे इकटक नर नारि जनकपुर, लागत पलक कलप बितए री।
प्रेम विवस मांगत महेस सों, देखत ही रहिए नित ए री।
कै ए बसौ सदा इन नैनन, कै मो नैन जाहु जित ए री ॥"

इस प्रकार जिस नख-शिख-सौन्दर्य का वर्णन पहले किया है उसका प्रभाव वर्णन ही उसकी उत्कृष्टता को स्पष्ट करता है। राम के सौन्दर्य का प्रभाव अयोध्या में, जनकपुर में, और वन पथ में जैसा तुलसी ने वर्णन किया है वह बड़ा ही आनन्दमय है। उनके चरम सौन्दर्य की उत्कृष्टता जितना ही विचारिये उतनी ही अधिक स्पष्ट होती है। राज-कुमारों को सौन्दर्य वर्णन की अक्षमता सीता की सखी ने प्रकट भी की है जो दोनों कुमारों को फूल बीनते हुये बाग में देखकर सीता से उनका वर्णन करती है—

देखन बाग कुंवर दोउ आए। वय किशोर सब भांति सुहाए।
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी।

जिन आँखों ने सौन्दर्य देखा उनमें बोलने की शक्ति नहीं और वाणी जो बोलने की शक्ति रखती है, देख नहीं सकती। अतः उनका वर्णन तो सर्वथा असंभव है। फिर कैसे पता चले कि वह कितने सौन्दर्यशाली हैं ! इस कुतूहल को ही शान्त करने के लिये तुलसी ने कितनी कला के साथ आगे प्रभाव का भी संकेत कर दिया है और एक सखी कहती है—

"जिन निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्ववश सकल नरनारी।"

यह राम का सौन्दर्य है। सीता का सौन्दर्य वर्णन तो और भी कठिन कार्य है और उसमें तुलसी ने और ऊँची तथा सूक्ष्म कल्पना

और गहरी व्यंजना से काम लिया है। नीचे लिखे बरवै छन्द में सखी का विनोद पूर्ण कथन सीता के सौन्दर्य-कल्पना में कुछ सहायक होता है—

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन मोह।
देखउ आपनि मूरति सिय के छाँह॥

गर्व करने योग्य राम की छबि भी सीता की छाया के समान है—वह राम की छबि जिसका प्रभाव ऊपर दिखाया जा चुका है। राम सांवले हैं ही, छाया भी काली होती है अतः व्यंग तो है ही। साथ ही सीता का सौन्दर्य कितना उत्कृष्ट है, उस की कल्पना भी हमें कुछ हो जाती है। अतः जब राम का सौन्दर्य वर्णन ही असम्भव है तब राम जिसकी छाया के समान हैं ऐसी सीता की छबि का वर्णन करना तो हास्यास्पद प्रयास ही होगा। अतः कुछ संकेतों द्वारा वे सीता के सौन्दर्य का आभास देते हैं—

जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिश्व कंहँ प्रकट दिखाई।
सुन्दरता कँह सुन्दर करई। छबि गृह दीप शिखा जनु बरई।
सब उपमा कबि रहे जुठाई। केहि पट तरौं बिदेह कुमारी।

जब वे विदेह कुमारी स्वयं हैं तब उनका सादृश्य किससे दिया जाय। वह तो स्वयं इतनी सूक्ष्म हैं। यथार्थ में सीता के नखशिख-वर्णन का प्रयत्न तुलसी ने नहीं किया है। वह अपनी असमर्थता ही प्रकट करते हैं। कल्पना उस चरम सौन्दर्य का आभास कुछ और अधिक नीचे पंक्तियों में पा लेती है—

सिय सोभा नहिं जाय बखानी। जगदम्बिका रूप गुण खानी।
उपमा सकल मोहि लघु लागी। प्राकृत नारि अंग अनुरागी।
सीय बरनि केहि उपमा देई। कुकवि कहाइ कुजस को लेई।

जो पटतारिय तीय सम सीया। जग अस जुवति कहाँ कमनीया।
गिरा मुखर तनु अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी।
विष बारुनी बन्धु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि वैदेही।
जो छबि सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई।
सोभा रजु मंदर श्रृंगारू। मथै पाणि पंकज निज मारू।

एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल।

यह तुलसी का चरम सौन्दर्य वर्णन है। जिस तक केवल कल्पना ही पहुँच सकती है और जैसा कि अन्यत्र किसी भी साहित्य में दुर्लभ है। ऐसे छबिशील राम और सीता परम कल्याणमय भी हैं। तुलसी के लिये तो वे कल्पवृक्ष हैं—

राम बाम दिसि जानकी, लखन दाहिनी ओर।
ध्यान करन कल्याणमय, सुरतरु तुलसी तोर॥

राम का स्वभाव 'चरमशील' का भंडार है, जिसका चित्रण उनके पद 'सुनि सीतापति सील सुभाऊ' के अन्तर्गत किया गया है। राम वह हैं जो अपने आचार के विषय में कहते हैं—"मोहि अतिशय प्रतीत जिय केरी। जिन सपनेहु परनारि न हेरी।" राम दीनों पर दया करने वाले और सबका कल्याण करने वाले हैं—

ऐसे राम दीन हितकारी
अति कोमल करुणानिधान बिनु कारण पर उपकारा।

राम शत्रु मित्र, सभी शरण में आये का कल्याण करने वाले हैं।

चरम-सौन्दर्यमय राम और सीता का चित्रण तुलसी ने चरमशीलमय रूप में भी किया है। सूर का सौन्दर्य वर्णन तुलसी के ही समान है और

राधा-कृष्ण का सौन्दर्य और उसका प्रभाव भी हम वैसा ही पाते हैं। तुलसी का वर्णन अधिक उच्च और शील की कल्पना अधिक सामाजिक कल्याण को लिये हुए है। सूर ने अपने वर्णन में कृष्ण को सामाजिक आदर्श स्थापित करने वाला चित्रित नहीं किया परन्तु वह भक्तों की रक्षा करने वाले और अत्याचारियों और आततायियों को दण्ड देने वाले अवश्य हैं। वह आनन्दमय हैं, और आनन्द देने वाले हैं, पर राम के समान आज्ञाकारी पुत्र, सच्चरित्र पति और प्रजावत्सल राजा नहीं हैं। उनका नख-शिख-सौन्दर्य वर्णन उनके अपूर्व सौन्दर्य का गहरा प्रभाव डालता है। उस प्रभाव का एक उदाहरण देखिये :—

जब तें मैं खेलत देख्यो आँगन में जसुदा के पूत री।
तब तें गृह सों नाहिन नातो टूट्यो जैसे काचो सूत री।
अति विशाल वारिज दल लोचन राजत काजर रेख री।
इच्छा सों मकरन्द लेत मनों अलिन गोकुल के वेष री।
श्रवणन नहिं उपकंठ रहत हैं अरु बोलत तुतरात री।
आगे प्रेम नैन मग ह्वै कै कापै रोके जात री।
दमकत दोउ दूध की दतियाँ जगमग जगमग होत री।
मानो सुन्दरता मंदिर में रूप रतन की जोति री।
सूरदास देखो सुन्दर मुख आनन्द उर न समाइ री।
मानो कुमुद कामना पूरण पूरण इन्दुहिं पाइ री।

कृष्ण की मनोहारी मूर्ति को जो भी देखता है अपने तन मन की सुधि भूल जाता है और इसी प्रभाव के द्वारा ही सूर ने कृष्ण के पूर्ण सौन्दर्य का परिचय दिया है। ब्रज के लोग कृष्ण की छवि पर अपने को निछावर कर अपने को धन्य मानते हैं—

सुन्दर मुख की बलि बलि जाऊं।
लावननिधि गुननिधि शोभानिधि। निरखि निरखि जीवत सब गाऊं।
अंग अंग प्रति अमित माधुरी प्रगटति रस सब ठाऊं।
तामें मृदु मुस्कानि मनोहर न्याय कहत कवि मोहन नाऊं।
नैन सैन दै दै जब हेरत तापर हौं बिन मोल बिकाऊं।
सूरदास प्रभु मदन मोहन छवि यह शोभा उपमा नहिं पाऊं।

इस प्रकार सूर ने कृष्ण के पूर्ण सौन्दर्य का प्रभाव द्वारा चित्रण किया है। चरमशील की प्रतिष्ठा सूर के कृष्ण में वैसी नहीं हो पाई जैसी तुलसी के राम में, पर उनकी लोक-मर्यादा से स्वच्छन्द आचरण में बड़ा प्रबल आकर्षण है जिसको सूर ने ग्रहण किया है और जिसका चित्रण तुलसी ने भी अपनी 'कृष्ण गीतावली' में किया है। ये सौन्दर्य और शील के चित्रण हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्यायें

८

काव्यशास्त्र की आधुनिक समस्यायें

आजकल का कवि काव्य-विवेक को कविता के लिए आवश्यक नहीं मानता, वरन् सामान्य धारणा यह हो चुकी है कि काव्यशास्त्र के विकास ने कविता को हानि पहुँचाई है; अतः कवि को काव्यशास्त्र से दूर रहकर ही कविता करना चाहिये। उसके ज्ञान से कविता की प्रगति को हानि होने की सम्भावना है और काव्यशास्त्र को लेकर चलने वाला कवि मौलिक और नवीन पथ-निर्माण नहीं कर सकता है। पर, यदि विचार कर देखें, तो यह धारणा व्यर्थ, भ्रमपूर्ण तथा असत्य जान पड़ती है। काव्य-शास्त्र का विकास कविता के विकास को रोकनेवाला नहीं है, उसका जितना ही विकास हो उतना ही अच्छा। कविता और जनरुचि दोनों ही इसके विकास से पनपती हैं। कविता के अन्तर्गत, दोष-हीनता, कला, प्रभाव तथा जीवन का सफल चित्रण, काव्यशास्त्र के सम्यक् ज्ञान से ही आते हैं, और काव्यशास्त्र के प्रचार से कविता का मर्म भी समझा जा सकता है। हानि तो तभी होती है, जब उसका यथार्थ विकास और प्रचार नहीं होता; अथवा उसका अधूरा ज्ञान और रूढ़िगत प्रयोग होता है।

जिस प्रकार हम अन्य सामाजिक शास्त्रों का ज्ञान समाज के विकास, और समृद्धि के लिये आवश्यक समझते हैं, उसी प्रकार काव्य की उन्नति के लिये काव्यशास्त्र की आवश्यकता है। काव्यशास्त्र के उपरान्त ही हम काव्य की उपयोगी और समर्थ शैलियाँ निकाल सकते हैं। अतः

इसके यथार्थ ज्ञान और प्रचार से कभी भी काव्य को हानि नहीं हो सकती। हाँ, जब कवि या लेखक स्वयं काव्यशास्त्र का यथार्थ अध्ययन या ज्ञान न करके केवल पारिभाषिक शब्दों, वादों, सम्प्रदायों या रूढ़ियों के चक्कर में फँस जाते हैं, और जीवन का यथार्थ ज्ञान छोड़कर अस्वाभाविक रीति से उनके पीछे चलते हैं; जब उन्हें जीवन और समाज के लिए कुछ कहना नहीं होता, अथवा कहने की सामर्थ्य नहीं होती, तभी कवि और कविता का सम्मान घटता है। काव्यशास्त्र के कारण नहीं।

काव्यशास्त्र तो कविता की रचना और उसके आस्वादन दोनों ही को गम्भीर और मधुर बनाता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की अवश्य रहती है, जीवन और समाज की परिवर्तित प्रवृत्तियों अथवा आवश्यक आदर्शों के अनुसार कवि और शास्त्रकार उसको अपनावें और उसी के अनुकूल उसकी व्याख्या करें। समयानुसार शास्त्र के नवीन विकास की भी आवश्यकता रहती है, और उसके पूर्व रूप की नवीन व्याख्या भी अभिप्रेत होती है। काव्य शास्त्र की अवहेलना करके भी चलने वाला कवि, उसके क्षेत्र से बाहर नहीं जा सकता। अलंकारों की निन्दा करता हुआ भी कवि अपनी कविता में अलंकारों का बहिष्कार नहीं कर सकता। अतः उसका सम्यक् अध्ययन और सम्यक् ज्ञान करके उसका आवश्यक उपयोग, कवि का कर्तव्य है।

समय और परिस्थितियों के अनुसार काव्यशास्त्र की समस्यायें बदला करती हैं; पुरानी समस्यायें काव्य में भी इसी प्रकार तिरोहित होकर नवीन समस्याओं को जन्म दिया करती हैं जैसे जीवन में। एक युग था जब काव्य में यही समस्या प्रधान थी कि काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है और उसका समाधान भामह और दंडी के समय में अलंकारों को सर्वोपरि मानकर किया गया था, दूसरा युग आया जब काव्य में रस को सर्वोपरि माना गया और अलंकार, गुण आदि की इसी प्रकार

व्याख्या की गई कि इनका रस से क्या सम्बंध है। इसी प्रकार हमें विचार करना है, कि काव्यशास्त्र की वर्तमान क्या समस्या है? और आजकल का कवि-समाज या शास्त्र उसका समाधान किस प्रकार करना चाहता है। उसके इस सुलझाव-तत्व का क्या मान है, और काव्यशास्त्र के पूर्व प्राप्त तत्वों से उसका क्या सम्बन्ध है। वह कोई नवीन तत्व है, या प्राचीन ही, तथा उसकी केवल व्याख्या और रूप ही नवीन है? इन अनेक रूपों में हमें आजकल काव्य और काव्यशास्त्र की समस्याओं पर भी थोड़ा विचार करना है। काव्य की अधिकांश मूलभूत समस्यायें काव्य शास्त्र की भी समस्यायें होती हैं, अतः वे दोनों लगभग एक ही मानकर हम आगे चल रहे हैं।

जब हम वर्त्तमान काव्यशास्त्र की समस्याओं पर गहराई के साथ विचार करते हैं, तब हमें विदित होता है कि हमारे सामने प्रश्न और समस्यायें लगभग वही हैं जो प्राचीन समय में थीं, थोड़ा बहुत परिवर्तन चाहे मिल जाय। और यह भी हम देख सके हैं कुछ एक आध को छोड़ कर समस्यायें मूलतः वही रहती हैं, उनका दृष्टि कोण और सुलझाव का ढंग-विशेष ही बदला करता है। यही बात हम आज कल भी पाते हैं, और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि आज कल हमारे सामने समस्या यह नहीं है कि कविता क्या है? उसका लक्षण हम जानना या बताना नहीं चाहते; पर यही समस्या इस रूप में प्रमुखतः हमारे सामने है कि कविता का तत्व क्या है? कौनसी वस्तु है जो आज कल का कवि या साहित्य सेवी कविता के लिये अनिवार्य समझता है। पिछले युगों ने कविता की आत्मा पर विचार किया है, किसी ने काव्य की आत्मा को रस, किसी ने वक्रोक्ति किसी ने रीति और किसी ने ध्वनि माना है, पर आज का कवि काव्य की आत्मा क्या मानता है? आजकल के कवि की दृष्टि से कविता का तत्व क्या है। आजकल का पाठक कविता के भीतर क्या पाना चाहता है?

यह सर्व प्रथम और मुख्य समस्या हमारे सामने है ।

काव्य की आत्मा :—

हम कह सकते हैं कि कवि कविता के अन्तर्गत अलंकार को अनिवार्य नहीं मानता, वह वक्रोक्ति या ध्वनि लाने का भी प्रयत्न नहीं करता, इनको उद्देश्य बनाकर चलने वाले पुरानी परिपाटी के कवि ही हों, तो हों। रीति और गुण भी आज के कवि का लक्ष्य नहीं है; और हम अन्त में यही कह सकते हैं कि रस का भी वर्णन उस रूप में कवि का ध्येय नहीं रहता जिस रूप में रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत उसकी व्याख्या की गई है और जिस रूप में रसवादी सम्प्रदाय के कवियों ने रस सम्बन्धी ग्रन्थों में उसका वर्णन किया है। वह प्रबन्ध-काव्यों का सा भी रस और भाव चित्रण नहीं करना चाहता, अतः हम कह सकते हैं कि रस को भी आज का कवि कविता का अनिवार्य अंग नहीं मानता (यहाँ पर रस सर्वाङ्ग पुष्ट रस-निष्पत्ति है)। तो फिर कविता का अनिवार्य अंग आज का कवि मानता क्या है ? और यदि इनसे कुछ भिन्न वस्तु को वह कविता का तत्व मानता है, तो हमारे प्राचीन काव्याचार्यों ने काव्य की आत्मा को ढूँढ़ने में सफलता नहीं प्राप्त की—यह बात भी विचारणीय है।

आजकल की कविताओं का अध्ययन करने पर हम कवि की दृष्टि से काव्य के तत्व या आत्मा की खोज कर सकते हैं। आजकल का कवि, 'अनुभूति' को कविता का अनिवार्य अंग मानता है। इसे और स्पष्ट करने के लिये हम कह सकते हैं कि कवि की स्वानुभूति ही कविता की आत्मा है, उसी को वह कविता में प्रकट करना चाहता है। इतना जानने पर अब हम प्राचीन सिद्धान्तों पर विचार करें, तो हम देख सकते हैं, कि यह स्वानुभूति जो आजकल कविता की आत्मा है, भाव या रस सम्प्रदाय की ही वस्तु है; पर सीधे ढंग से हम उसे सम्बन्धित नहीं

कर सकते। रससिद्धान्त में भाव चित्रण प्रायः आत्मानुभव के रूप में नहीं आता, उसमें तो कवि किसी दूसरे का भाव तटस्थ रूप में चित्रित करता है, पर आज का कवि तो अपने भाव को अपने ही रूप में प्रस्तुत करता है। इसीलिये हम कहते हैं कि 'स्वानुभूति' ही कवि की कविता का तत्व या आत्मा है जिसको लेकर रस का पूर्ण चित्रण भी हो सकता है। 'स्वानुभूति' भाव का योग पाकर रस, और कल्पना का योग पाकर अलंकृत काव्य को जन्म देती है।

कारण:—

अब कवि की इस 'स्वानुभूति' को जाग्रत और तीव्र करने के लिये अनेक बातों की आवश्यकता है और जाग्रत होने पर उनको सफल रूप में चित्रित करने के लिये भी कुछ उपादानों का होना अनिवार्य है। अतः दूसरी समस्या यह है कि काव्य के कारण और प्रेरणायें क्या हैं, और काव्य के साधन और उपकरण क्या हैं? और आज का कवि उनका कहाँ तक उपयोग करता है? कारण और प्रेरणाओं के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि कवि के जीवन का अनुभव, निरीक्षण और अध्ययन कारण हैं। जीवन के सुख, दुःख, विषमतायें, अत्याचार, आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य, आदि कवि की अनुभूति और प्रतिभा से टकराकर काव्य का रूप ग्रहण करती हैं। अतः अपनी अनुभूति को तीव्र करने के लिये कवि के लिये यह आवश्यक है कि जीवन और जगत का व्यापक और सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करें। बिना जीवन के यथार्थ अनुभव के कवि की अनुभूति सर्वजनीन नहीं हो सकती और चित्रण प्रभावशाली नहीं हो सकता। पर इन कारणों से पुष्ट अनुभूति को व्यक्त करने के लिये काव्य प्रतिभा चाहिए, जो काव्य का मुख्य कारण है।

उपकरण:—

यह सब काव्य की आत्मा 'स्वानुभूति' को जाग्रत और तीव्र करने

के कारण और साधन हुये। आत्मा कभी नग्न रूप में नहीं आती। उसके घर के लिये, देह, आवरण, या स्थान आवश्यक है। अपनी अनुभूति को आकार देने के लिये जिन बातों का उपयोग करना है, वे काव्य के बाह्य अंग हैं और इनके अन्तर्गत भाषा, छन्द अलंकार आते हैं। ये ही काव्य के उपकरण हैं। इसके पूर्व कि हम इन बातों पर विचार करें, यह बता देना चाहते हैं कि 'स्वानुभूति' तो प्राचीन काव्यशास्त्र की खोजों से कुछ भिन्नता अवश्य रखती है, पर काव्य के कारण और प्रेरणायें अब भी वही मानना पड़ेगा जो प्राचीन आचार्य मानते आये हैं।

(१) "*एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह*
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे १॥ ३॥
मम्मट कृत काव्य प्रकाश।

और जिसे उन्होंने शक्ति, निपुणता, अभ्यास आदि के रूप में प्रकट किया है। यह बात अवश्य है कि आजकल का कवि इन कारण रूप वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न उतना नहीं करता जितना अभिप्रेत है।

भाषा:—

भाषा काव्य का अंग है, अतः सबसे पहले हमें विचारना है कि काव्य की भाषा कैसी होनी चाहिए? यह भी आजकल की समस्या है, पर काव्यशास्त्र इस विषय में कोई भी कठोर नियम नहीं बना सकता। अपनी अनुभति के प्रकाशन के लिये उपयुक्त भाषा कवि स्वयं चुन सकता है। साहित्यिक भाषा के रूप में जब कवि या लेखक नितान्त रूढ़ और जीवनहीन भाषा को ग्रहण करके चलता है, तब भी काव्य

को बड़ी हानि होती है; और जब कोई एकदम नवीनता के फेर में पड़ कर साहित्य द्वारा अर्जित भाषा के भंडार को ठुकरा ही देना चाहता है, तब भी बड़ी कठिनाई पड़ती है। अतः कवि के लिए परम्परा का विकास आवश्यक है। भाषा को सजीव और जोरदार बनाने के लिये आवश्यकतानुसार नवीन शब्दों, मुहावरों, प्रयोगों, लोकोक्तियों का निर्माण कभी भी बन्द नहीं होना चाहिये, पर हमें प्राचीन प्रयोगों को भी एकदम तिलांजलि न देना चाहिये, क्योंकि उसके अन्तर्गत हमें भाषा की मँजी और परिष्कृत सामग्री मिलती है।

भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक तो शब्द का, दूसरा वाक्य या मुहावरों का। हमारे आधुनिक कवियों ने शब्दों के प्रयोग में तो काफी ध्यान दिया है, पर क्रिया-पदों, मुहावरों और वाक्यों के प्रयोग में विशेष सफलता नहीं प्राप्त की; इस पक्ष में उनका कार्य नगण्य है। क्रिया-पद के बिना शब्द खिलता नहीं है। अतः क्रियापद के नवीन प्रयोग, उसमें लक्षणा-व्यंजना आदि शक्तियों को भरने का प्रयत्न बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यक है। भाषा की दृष्टि से रीतिकालीन हिन्दी कविता ने आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की है। ऐसे ऐसे ललित और भाव-व्यंजक शब्द मिलते हैं और ऐसे ऐसे प्रयोग और मुहावरे, कि मन यही चाहता है कि पद को केवल शब्द और मुहावरों के लिये याद कर लिया जाय। इस स्मरण करने में, आकर्षण को बढ़ाने में छन्दों का भी अपना हाथ रहता है। अतः छन्दों की काव्य में आवश्यकता पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है।

छन्द:—

कविता की परिभाषा करना कठिन है, क्योंकि कविता के स्वरूप ने सदैव लक्षणकारों को चुनौती दी है, अतः कविता विषयक व्यक्तिगत अनुभूति और धारणा ही हमें इसका स्वरूप समझने में सहायता देती

है। अनेक विचारकों और विवेचकों के कथनों के अनुसार यही कहा जा सकता है कि कविता का स्थान साहित्य में सर्वोच्च रहा है। यदि विचार कर देखें तो स्मरणीयता कविता की मुख्य विशेषता है। स्मरणीय भावपूर्ण कथन कविता की कोटि को प्राप्त करते हैं। कहानी का अनुभव लोक का अनुभव होता है, पर कविता का अनुभव अपना ऐसा अनुभव है जो लोकानुभव पर आश्रित होता हुआ भी नवीन होता है। यह नवीनता स्मरण करने की प्रेरणा और आकर्षण कविता में भरती है और कविता के शब्द उसे स्मरण करने की सुगमता प्रदान करते हैं। इस स्मरणीयता में सहायक तत्व छन्द है, अतः छन्द का कविता के भीतर सदा महत्व रहेगा।

यहाँ पर काव्य और कविता का भेद भी समझ लेना चाहिए। काव्य चाहे गद्य-मय हो चाहे पद्य-मय; पर कविता पद्य-बद्ध काव्य ही है। अतः कविता के लिये छन्द की आवश्यकता अनिवार्य है। छन्द हमारे भाव की गति को स्पष्ट करता है। छन्द का तात्पर्य यही नहीं है कि पिंगल शास्त्र के आचार्यों ने जिन छन्दों को बताया है उन्हीं का प्रयोग हो। छन्द का क्षेत्र आकाश सा व्यापक और उसका रूप लहरियों सा जटिल है। उसके किसी भी रूप का प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक कविता में जहाँ हम छन्द-मुक्त कविता करने का दावा करते हैं, वहाँ पर वास्तव में छन्द के स्वाभाविक और नवीन रूप का ही प्रयोग है। इन नवीन छन्दों के लक्षण लक्षणकारों को तैयार करते हैं। जहाँ भी कविता की गति बँधती है, वहाँ पर छन्द अवश्य होता है, अतः कविता छन्द को छोड़ नहीं सकती। कविता की स्मरणीयता सम्बन्धी विशेषता के विषय में इतना और कहा जा सकता है कि लक्षण ग्रन्थों में आये और पूर्ववर्ती कविता में प्रयुक्त छन्दों में आजकल के नवीन छन्दों की अपेक्षा स्मरणीयता का गुण अधिक है।

अलंकार:—

अब विचारणीय प्रश्न सामने यह है कि आधुनिक दृष्टिकोण से काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है ? आधुनिक विचारों के अनुसार अलंकार, काव्य में अनिवार्य नहीं है, और न काव्य के लिये अलंकार साध्य ही हैं। यह विचार सत्य है, पर आजकल की जो भावना अलंकारों के प्रति घृणा करने की है, वह अस्वाभाविक है। किसी की कविता में यदि आपने उसके अन्तर्निष्ठ चमत्कार या सौष्ठव के विश्लेषण में उपमा या रूपक या भ्रान्ति अलंकार का नाम ले दिया तो कवि या रसिक समाज नाक भौं सिकोड़े, यह उचित नहीं। यह मानने पर भी कि अलंकार काव्य का अनिवार्य अंग नहीं, कोई भी पूरी कविता अलंकार काव्य सौष्ठव का सुन्दर और स्वाभाविक साधन है। इतना स्थान अलंकार का मूलभूत है। अलंकार, वर्णन की सुन्दर और चमत्कार पूर्ण प्रणाली है; वे हमारी भावानुभूति के प्रकाशन को उत्कर्ष प्रदान करने वाले हैं, अतः अलंकार का काव्य में आदर सदैव रहा है और रहेगा। हाँ, जब किसी कवि के लिये कविता लिखने का उद्देश्य ही अलंकार लाना हो जाता है, तब वह अपनी यथार्थ सीमा का उल्लंघन करता है। अलंकार, साधन है साध्य नहीं, और साधन के रूप में अलंकार अनजाने ही हमारी नित्य प्रति की बोल चाल तक में तो आते ही हैं, काव्य के लिये कुछ कहना तो दूर की बात है। काव्य तो उसका क्षेत्र ही है।

इस सम्बन्ध में आवश्यक एक बात यह है कि अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक रीति पर करना चाहिए, किसी भी कविता को अलंकारों से लादना नहीं चाहिए। जिस प्रकार अलंकारों से लदी हुई स्त्री अपना स्वाभाविक सौन्दर्य भी खो देती है, उसी प्रकार बहुत अधिक अलंकारों के प्रयोग से कविता का भी अपना स्वाभाविक

सौन्दर्य दब जाता है। इस दृष्टिकोण को सामने रखकर और अलंकार की यथार्थ परिभाषा को हृदयङ्गम करके हमें अपने अलंकार-सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थों का भी परिष्कार करना आवश्यक है। अलंकारों की संख्या में जो इतनी अस्वाभाविक वृद्धि हो गई है, वह न आवश्यक ही है और न न्याय-संगत ही। अनेक अलंकार-ग्रन्थों में कुछ तो अलंकार-बाह्य पदार्थ भी भरे हुये हैं।

हम जैसा कह चुके हैं कि अलंकार किसी वर्णन के चमत्कार पूर्ण सुन्दर ढंग को कहते हैं, किसी वस्तु या भाव वर्णन को नहीं। वस्तु या वर्णन में अलंकार हो सकते हैं, पर तभी, जब कि उस भाव-वर्णन में कुछ चमत्कार हो। इस दृष्टि से रसवदादि अलंकार नहीं हो सकते जो कि भाव के ही वर्णन-मात्र हैं और वे अलंकार भी जो वस्तु से पृथक् नहीं, जिन में वस्तु स्वयं चमत्कार पूर्ण है ढंग चमत्कार पूर्ण नहीं, अलंकार नहीं हो सकते जैसे कि प्रयुक्त या प्रचलित परिभाषाओं के अनुसार असम, अधिक, तिरस्कार, निश्चय, विरोध, हेतु, भ्रम आदि अलंकार। इन अलंकारों से किसी वस्तु या भाव का केवल बोध-मात्र होता है। अलंकारों का यह उद्देश्य नहीं, वे तो किसी भी वस्तु या भाव के वर्णन को उत्कर्ष और बोध को तीव्रता प्रदान करने के लिये होते हैं, जो ऐसा न कर सकें, वे अलंकार नहीं हैं। इस दृष्टिकोण से उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, प्रतीप, अपन्हुति, विभावना आदि अलंकार काव्य में सदैव उचित और सम्मान्य स्थान प्राप्त करेंगे। वे काव्य की शोभा बढ़ायेंगे, उसका बोझ नहीं बनेंगे। ऐसे अलंकारों का प्रयोग भाव के लिये सदा आवश्यक है।

काव्य का प्रयोजनः—

अन्त में हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि काव्य का प्रयोजन और उद्देश्य क्या है, और हिन्दी में उसके कितने रूप हैं। इनमें

से हम प्रथम भाग को लेते हैं। आजकल समाज में यह एक समस्या सी है कि काव्य का (कविता विशेष रूप में) समाज में क्या स्थान है, उसकी क्या उपयोगिता है? काव्य की उपयोगिता पर तो अधिक सन्देह नहीं हो सकता है, क्योंकि, उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध आदि का प्रचार आजकल खूब है और उससे लोगों का मनोरंजन भी होता है; समाज का, व्यक्ति का, देश का और युग का ज्ञान भी होता है, तथा सुधार भी। अतः उसके लिये तो कहा जा सकता है, कि वह जीवन का परिष्कार और सुधार करता है और मनोरंजन प्रदान करता है, परन्तु कविता का क्या उद्देश्य है, क्या प्रयोजन है? यह प्रश्न अधिक विचारणीय है।

यथार्थ कविता का महत्व, कला और प्रभाव दोनों की दृष्टि से उपर्युक्त काव्यांगों से अधिक है। अन्य रचनाओं को पढ़कर आप भुला सकते हैं, पर कविता का आघात भुलाया नहीं जा सकता। कहानी उपन्यास आदि को आप एक बार पढ़कर तृप्ति पा जाते हैं क्योंकि उसका कथानक आपकी जिज्ञासा को शान्त कर देता है, पर कविता को एक बार नहीं बार बार पढ़ने पर भी आप नहीं अघाते। उसे जैसा ही पढ़िये वैसा ही आनन्द आता है। पाठक की सम्पूर्ण मनोवृत्तियाँ तन्मय हो जाती हैं; कविता के भाव के अनुसार उनमें विकास और उत्कर्ष प्राप्त होता है। यहाँ तक उत्तम कविता किसी भी व्यक्ति को अभिप्रेत कार्य के लिये प्रेरित कर सकती है, अतः कला और प्रभाव की दृष्टि से कविता का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। समाज और व्यक्ति दोनों के मनोरंजन और हित के लिये यथार्थ कविता का सृजन, पठन-पाठन

और मनन आवश्यक है। इससे आदर्श बनता है। हम अधिक संस्कृत होते हैं, भावनायें विकास और परिष्कार पाती हैं, मन को आनन्द मिलता, हृदय तृप्त होता है; आत्मा सबल बनती है।

पर कविता करना, और पढ़ना या सुनना दोनों ही काम सरल नहीं हैं। उसके लिये आपको एक विशेष वृत्ति बनानी पड़ती है। कवि को भी कविता करने के लिये विशेष परिस्थिति का निर्माण करना पड़ता है, उसे भाषा और शब्दों पर अधिकार करना पड़ता है, उसे अनुभूति को कोमल और कल्पना को सूक्ष्म बनाना पड़ता है; तभी उत्तम कविता की सृष्टि सम्भव है। अतः इन दोनों के अभाव में आजकल हमारी कविता की ओर से ही आस्था सी हट रही है। पर इस में कविता का दोष नहीं। हाँ, एक बात अवश्य है कि कविता, जीवन की समस्याओं से कुछ अधिक निश्चिंतता चाहती है। जिस युग, या जिस समाज में कवि और समाज दोनों ही संघर्ष में पिस रहे हों, वहाँ पर कविता का पनपना कठिन है; कम से कम एक का निश्चिंत होना आवश्यक है। अतः कविता का प्रयोजन और उद्देश्य स्वतः सिद्ध है।

वर्गीकरण: —

हम हिन्दी काव्य के विविध रूपों या काव्य के वर्गीकरण पर विचार करेंगे। इसके पूर्व कि प्रत्येक का अलग अलग स्वरूप स्पष्ट किया जाय, वर्गीकरण सम्बन्धी निम्नांकित वृत्त प्रस्तुत किया जाता है। यह साहित्य वृत्त है और हिन्दी में प्राप्त सभी रचनाओं को इसके अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया गया है।
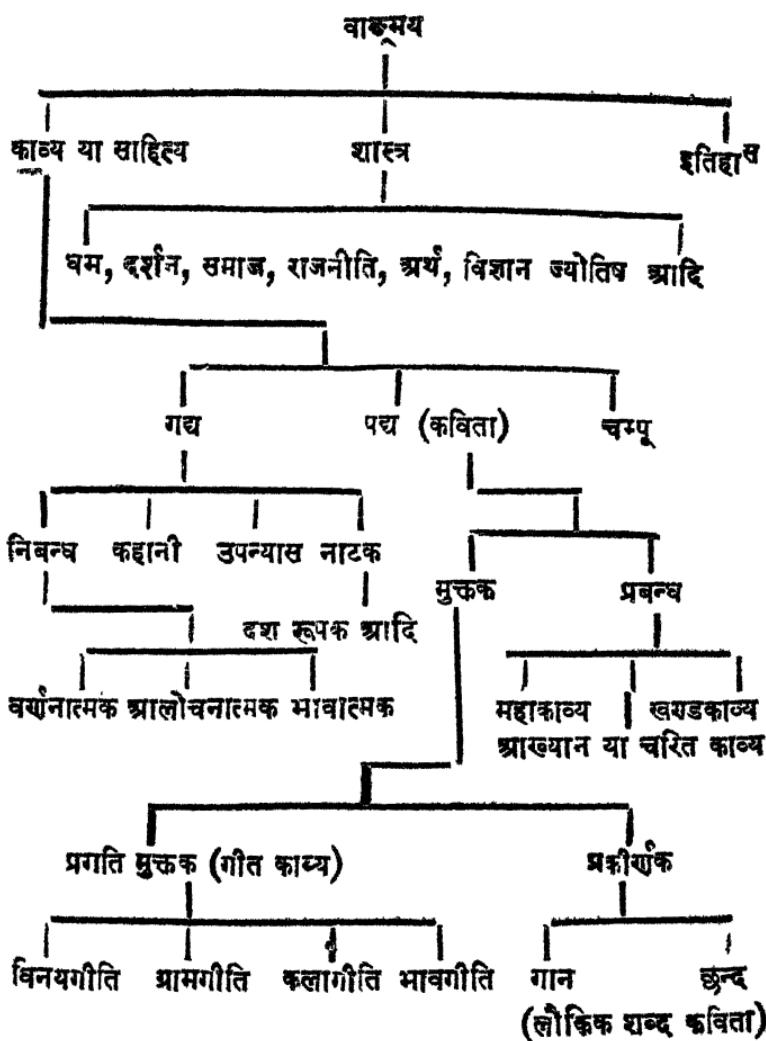
वाङ्मय के काव्य, इतिहास और शास्त्र तीन ही वर्ग आवश्यक जान पड़ते हैं, क्योंकि अन्य सब इन्हीं के अन्तर्गत आ सकते हैं; भूगोल अधिकांश शास्त्र के भीतर आ जाता है, कुछ भाग इतिहास के

भीतर हो सकता है। शास्त्र के अनेक वर्ग आजकल हमारे सामने हैं जिनके विवरण देना हमारे विषय से बाहर की बात है। काव्य के वर्गीकरण पर विचार करना ही हमारा ध्येय है।

काव्य—रमणीय अर्थ प्रदान करने वाला शब्द वाक्य, या रचना काव्य है, । काव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य और चम्पू।

गद्य (काव्य) वह काव्य है जिस में छन्द-बद्ध रचना न होकर, बोल चाल की शुद्ध व्याकरण सम्मत भाषा का प्रयोग किया जाता है।

पद्य (काव्य) वह काव्य है जिसमें छन्द-बद्ध भाषा का ही प्रयोग किया जाता है, हिन्दी में यह पद्य काव्य ही कविता के नाम से प्रचलित है, और इसी का अधिक प्रचार रहा है। गद्य काव्य तो आधुनिक युग की देन है।

चम्पू—जिस में गद्य पद्य दोनों ही मिश्रित रहते हैं। इसके अन्य भेद हिन्दी में विशेष प्रचलित नहीं हुए।

गद्य के चार भेद देखने में आते हैं—निबन्ध, कहानी, उपन्यास और नाटक।

निबन्ध—वह गद्य है, जिसमें कथानक से मुक्त होकर किसी विषय पर रोचक ढंग से श्रृंखला बद्ध निजी भाव या विचार उपस्थित किये जाते हैं। इसमें शैली का विशेष स्थान है।

कहानी—वह गद्य काव्य है जिसमें जीवनकी किसी घटना या घटनाओं को लेकर रोचक ढंग से वर्णन वार्तालाप अथवा दोनों के द्वारा कोई चरित्रया भाव इस प्रकार से उपस्थित किया जाय कि वह पूर्ण ज्ञात हो।

उपन्यास—वह गद्य काव्य है जिसमें किसी व्यक्ति के सम्पूर्ण

जीवन-व्यापी घटनाओं के सहारे, वर्णन और वार्तालाप के द्वारा किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज का पूरा चित्र उपस्थित किया जाता है।

नाटक—वह गद्य काव्य है जिस में एक या अधिक अंकों में केवल अभिनय और वार्तालाप के द्वारा किसी व्यक्ति के जीवन का चित्रण किया जाता है। इसे रूपक कहते हैं और इसके दस भेद संस्कृत में दिये गये हैं पर हिन्दी में नाटक और एकांकी नाटक ही विशेष प्रसिद्ध हैं।

कविता—(पद्य काव्य) के दो भेद हैं—प्रबन्ध और मुक्तक

प्रबन्ध—वह कविता है जिसमें कोई कथानक सूत्र रूप में छन्दों को बाँधे रहता है, इसके दो प्रकार हैं:—महाकाव्य और खण्ड काव्य।

महाकाव्य—वह काव्य है जिस में किसी महापुरुष का सम्पूर्ण जीवन ८ या अधिक सर्गों में प्राकृतिक दृश्यों, और कथानक की सुश्रृंखलित धारा के साथ किसी एक रस को प्रधान रूप में और अन्य रसों को, गौण रूप में अपनाकर प्रायः एक सर्ग में एक छन्द का प्रयोग करके, वर्णित किया जाता है। महाकाव्य के सम्पूर्ण लक्षणों को न लेकर कुछ के सहारे जो सम्पूर्ण जीवन का प्रस्तुत करने वाला प्रबन्ध काव्य है उसे चरित काव्य या एकार्थ काव्य की संज्ञा भी दी जाती है।

खण्ड काव्य—वह प्रबन्ध काव्य है, जिस में किसी भी पुरुष के जीवन का कोई अंश ही वर्णित होता है, पूरी जीवन गाथा नहीं।

मुक्तक—वह पद्य काव्य है, जिस में कोई कथा धारा प्रवाह रूप में नहीं चलती और जिसका प्रत्येक छन्द स्वच्छन्द और पूर्ण होता है।

मुक्तक के दो रूप देखने को मिलते हैं। प्रगीत मुक्तक और प्रकीर्णक—

प्रगीत मुक्तत—वे रचनायें हैं जिन में गीतों या गेय पदों में अपने किसी मुख्य भाव का स्वाभाविक सीधे ढंग पर तीव्र रूप में प्रकाशन किया जाता है।